षष्ठ पुष्प

'णाणं पयासओ'

गुरुवाणी

सम्पादिका
प्रीति जैन

गुरुवाणी प्रकाशन, जयपुर

❑ *प्रकाशक :*
ज्ञानप्रकाश बक्षी - 94140-44605

❑ *प्रबन्ध सम्पादक :*
सुमेरकुमार जैन - 2602862

❑ *सहयोगी :*
बाबूलाल जैन (ठेकेदार) - 2592021
योगेन्द्र जैन
मुक्तेन्द्र जैन

❑ *प्रथम संस्करण 2,100; दिसम्बर, 2002*
द्वितीय संस्करण 2,200; मार्च, 2003
तृतीय संस्करण 2,200;
सितम्बर, 2003
वीर निर्वाण संवत् 2530

❑ *प्राप्ति स्थान*
- **'सुमंगल'**, एफ-16
  मधुबन कॉलोनी, टोंक फाटक, जयपुर
  फोन : 2592661
- **संतोष रोडवेज**
  मोती डूंगरी रोड, जयपुर
  फोन : 2618834, 2609796

❑ *मूल्य 20/-* (डाक व्यय अलग)

❑ *मुद्रक*
पॉपुलर प्रिन्टर्स
मोती डूंगरी रोड, जयपुर-302 004
फोन : 2606883, 2606591

अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ संख्या
• उत्तम क्षमा	१
• उत्तम मार्दव	१७
• उत्तम आर्जव	३१
• उत्तम शौच	४२
• उत्तम सत्य	५५
• उत्तम संयम	६९
• उत्तम तप	७७
• उत्तम त्याग	८९
• उत्तम आकिंचन्य	१००
• उत्तम ब्रह्मचर्य	१०८
• क्षमापर्व	११८

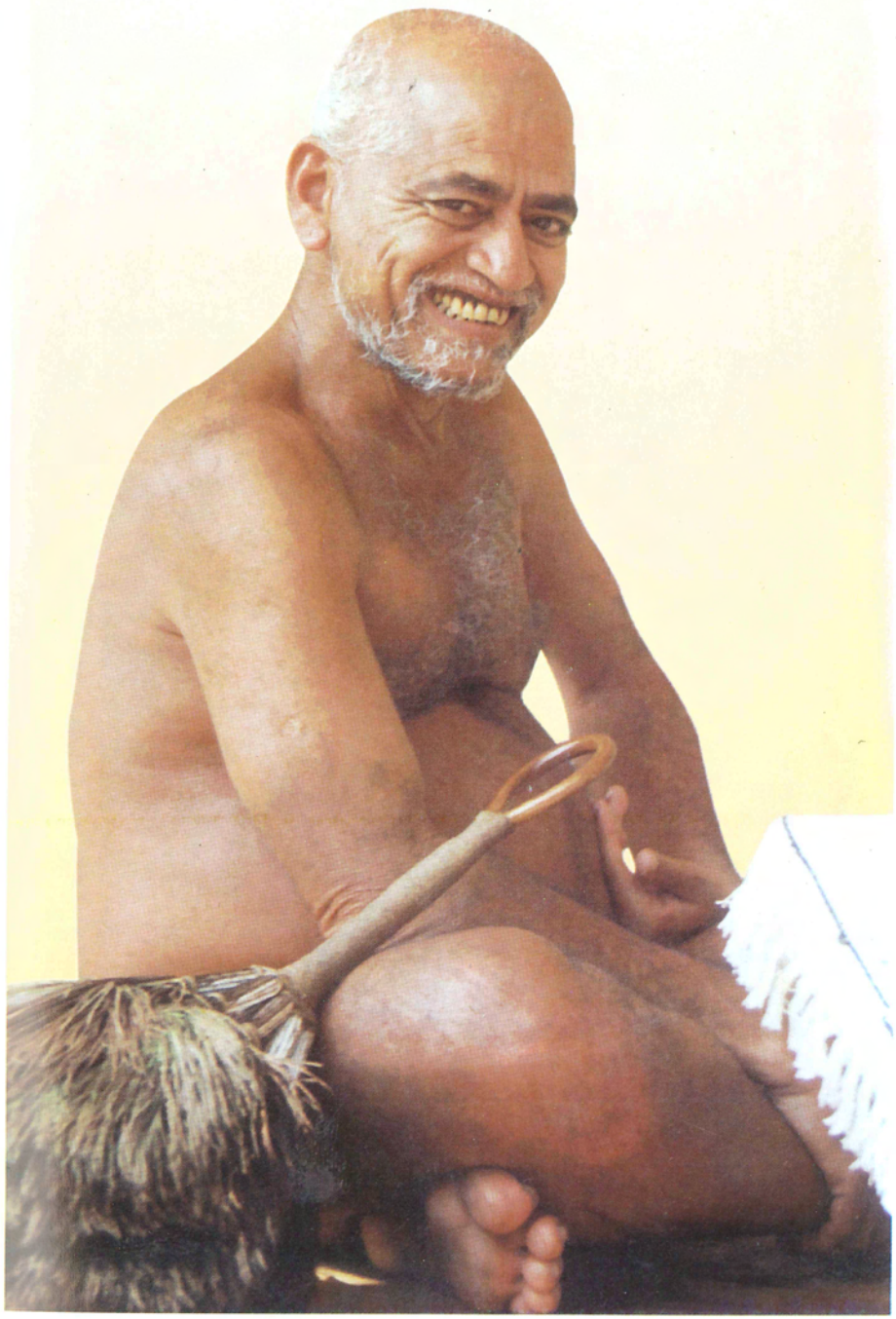

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज

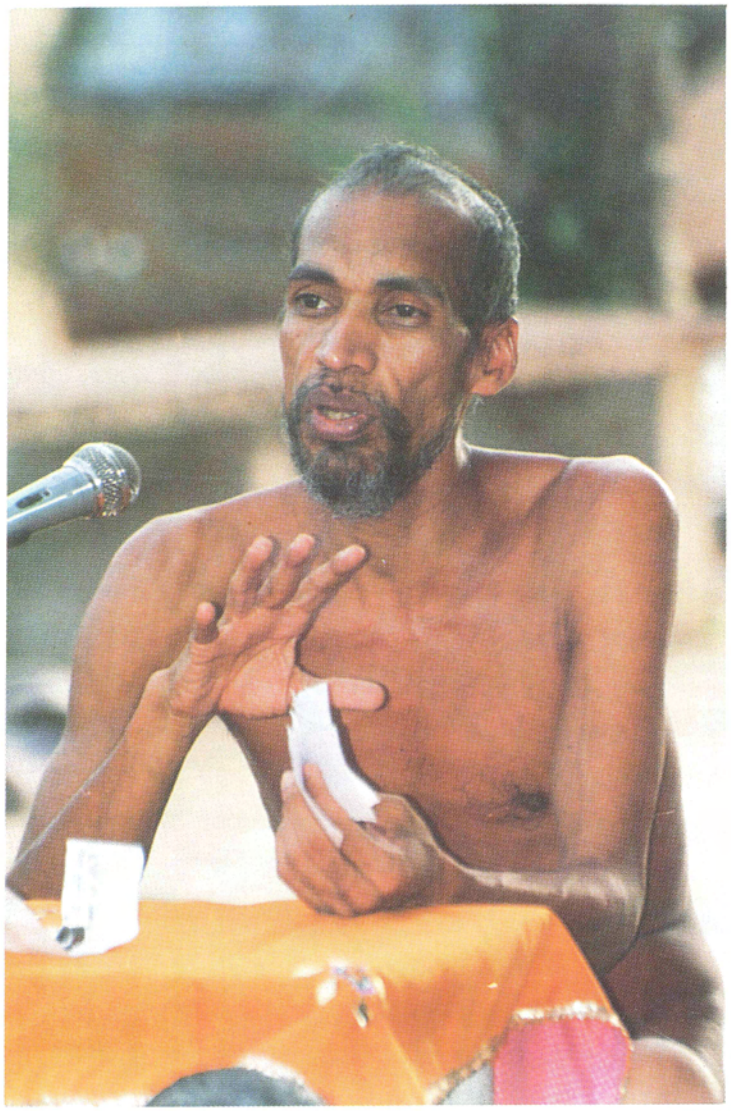

मुनिश्री क्षमासागरजी महाराज

अपनी बात

विषय-कषायों से सना यह जीव संक्लेश और तनाव का भार ढोते हुए समय/काल की गति के साथ भागा चला जा रहा है। क्षणभर का भी विराम नहीं है। विषय-कषायों के साथ अनवरत गति के प्रभाव से यह अनेक आकांक्षाओं को जन्म देता है। उनमें से कुछ की आंशिक पूर्ति पर सुख मानने लगता है और कुछ के पूरी न होने पर अरमानों के ढेर को अतीत की ओर जाते हुए देख बेबस और निराश हो बहता चला जा रहा है काल की गति के साथ। सर्वत्र आकुलता व्याप्त दिखाई देती है, यह निराकुलता के लिए विकल हो उठता है। निराकुल क्षणों के लिए प्रतीक्षारत यह चाहता है - संक्लेश और तनाव से मुक्त शान्ति और भविष्य के लिए वह राह जिसमें अभावों की आग उसे दग्ध न कर सके। पर ऐसे सुयोग कब सहज-सुलभ होते हैं ? बोध के उन क्षणों कीं प्रतीक्षा में जीवन चुकता जा रहा है।

गुरु की वाणी सुनना, गुरु का सामीप्य मिलना भाग्यशाली होने का चिह्न है। सुयोग से सत्संग का लाभ उठाने का अवसर प्राप्त होना पुण्योदय की सूचना है। सम्हलो, सुनो; समझो और गुनो। अनुभूति स्व-आश्रित होकर आनन्द की राह प्रशस्त करती है। भाव-जगत में सर्वत्र आह्लाद, समर्पण व संकल्प की दिशाएँ दीखने लगती हैं। अकेला निराश्रित जीव सहारा व सहानुभूति चाहता है। गुरु का सत्संग इस कमी को पूरा करता है। जब सम्बोधन का एक-एक शब्द हृदय के अन्तस्तल को छूता है तब जीव को भान होता है कि वह कहाँ खड़ा है ? सम्हलने की ललक होती है, वह ही सुअवसर बन जाता है। ज्ञान विश्वास को सम्यक् करता है, पुष्ट करता है और फिर वह सम्यक् विश्वास ही ज्ञान को सम्यक् करता है। सम्यक् विश्वास के आधार पर खड़ा ज्ञान सम्यक् होकर चारित्र-साधन के लिए उत्प्रेरित करता है। ज्ञान के सम्यक् हुए बिना दर्शन व चारित्र का बल सघन नहीं हो पाता। दर्शन व चारित्र के संयोजन से ज्ञान पुष्ट होता जाता है। सम्यक् ज्ञान का यह प्रवाह इस प्रकार निखरता हुआ निर्मल होता जाता है और सर्वत्र आनन्द, तुष्टि और आत्मनिर्भरता सहित चाह-अचाह के बीहड़ से निकलकर निजलोक का

आस्वादी हो जाता है। सम्यक्दर्शन व उस पर आधारित ज्ञान अपनी रक्षा हेतु सम्यक् आचरण की बाड़ का सहारा लेते हैं। केवलदर्शन व केवलज्ञान की स्थिति ही सर्वोपरि है। चारित्र तो जीवन जीने की, ज्ञान-दर्शन की सर्वोत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त करने की एक व्यवस्था है, एक कला है। उसके बिना ज्ञान की ऊर्जा संचित और संयमित न होकर बिखर जायेगी। चारित्र ऊर्जा को बिखरने से बचाने व रोकने की, उसको समेटने की प्रक्रिया है। वह दर्शन व ज्ञान के विस्फोट के लिए शक्ति को संचित करता है।

इस प्रकार भाव-जगत को संवारने के लिए अवसर चाहिए; इसके लिए सहारे की, सुयोग की आवश्यकता है। अतृप्त मन तृप्ति के उपाय और साधनों के अभाव में छटपटाहट अनुभव करता है। उसे चाहिए वह संबोधन जो उसकी दिशा व प्रवाह को मोड़ दे सके, मोड़ने का निमित्त बन सके। पुण्य-संजोग से कभी अनायास ही ऐसे अवसर का उपलब्ध होना संभव हो जाता है तब गुरु के उपदेश सुनने का अवसर सुलभ हो जाता है। चातक की भाँति अतृप्त मन को ऐसे सुयोग की प्रतीक्षा होती है और तब स्वाति नक्षत्र की बूँद—गुरु-उपदेश का आस्वादन संभव हो जाता है।

वर्तमान में अनेक मुनिजनों की चर्या दिशा-निर्देश के नाम पर गृहस्थचर्या के अनेक क्रिया-कलापों में रुचि लेने के कारण, आरम्भ आदि से अछूते न रहकर कृत-कारित-अनुमोदन द्वारा सक्रिय होने के कारण चर्चा का विषय बनने का अवसर प्रदान कर रही है। मतभेद व विवादों को प्रश्रय प्राप्त हो रहा है। समाज को सही दिशा-निर्देशन व संगठित करने के स्थान पर उसे बाँटने तथा स्वयं साधु-साधु के प्रति समादर भाव में न्यूनता दर्शित करने की प्रक्रिया से असंतुष्ट व्यक्ति और समाज इस स्थिति को नहीं चाहता, वह निर्विवाद धर्म की दिशा चाहता है। तत्व की वास्तविकता को किंचित समझकर अपनी विकल स्थिति में सुधारकर त्राण चाहता है। ऐसी स्थिति के बीच मुनिश्री क्षमासागर जी व मुनिश्री भव्यसागर जी के जयपुर में वर्षायोग चातुर्मास होने के समाचारों से एक आशा का संचार हुआ कि सुयोगवश कुछ आध्यात्मिक चर्चा-समाधान, उपदेश सुनने का, नवयुवकों में धार्मिक भावना जागृत होने का, उसे बल प्राप्त होने का अवसर प्राप्त होगा। वह समय आया। मुनिश्री भव्यसागर जी सहित मुनिश्री क्षमासागर जी का जयपुर में वर्षायोग का अवसर सुलभ हुआ। मुनिश्री के प्रवचनों से समाज व नवयुवकों की विचारधारा का एक दिशा व मोड़ पाने की संभावनाएँ यथार्थ होने लगीं। मुनिश्री के

सम्बोधन आत्मबोध हेतु प्रेरक होकर व्यक्ति के विचारों की धारा को सम्यक् दिशा में प्रवाहित करते हैं। मर्म को छूती हुई उपदेश-शैली हृदय की ग्रंथियों को खोलने हेतु झंझोड़ देती हैं; बीज बनकर भावी वृक्ष को संभावना जागृत करती है।

सभी विवादों से परे रहकर, अपनी साधना में रत मुनिश्री की सुमधुर शैली पिपासुजनों को अपनी ओर खींचती है, मार्ग की ओर इंगित करती है। गुरु और धर्म के प्रति आस्था तथा जागरूकता में वृद्धि स्पष्ट दिखाई देने लगी। समाज चाहता है कि उसे धार्मिक बोध सहज शैली में सुलभ हो जिससे वे भावनाएँ दृढ़ होती हुई उसके नित्यप्रति के जीवन में एक मोड़ लाने का सशक्त साधन बन जाये।

धर्म की प्रभावना में वृद्धि हुई, नौजवान व प्रबुद्धजन मुनिश्री के उपदेशों से लाभान्वित होने लगे। भाद्रपद मास आया, दशलक्षण पर्व भी आये। मन में विचार आया कि यदि मुनिश्री द्वारा दशलक्षण धर्म पर दिये जा रहे प्रवचनों का प्रकाशन किया जा सके तो समाज को सुलभ यह साहित्य चिर-उपयोगी होगा। परस्पर मंत्रणा कर यह प्रयास किया गया।

मुनिश्री ने दिनांक ११ सितम्बर, २००२, भाद्रपद शुक्ल पंचमी से स्थानीय दिगम्बर जैन नसियां, भट्टारकजी में दशलक्षण धर्म पर प्रवचन दिये। 'उत्तम क्षमा' पर प्रवचन कर समझाया कि कषायों का परिमाण व्रण, ऋण, अग्नि के समान वृद्धिंगत होता है। क्रोध का कारण आवेग है। अपेक्षाओं की पूर्ति न होना खिन्नता पैदा करता है, क्रोध का आधार बन जाता है। इसलिए हमें व्यवहार में क्षमाभाव को धारण करना चाहिए। दुकानदार भी वह ही सफल होता है जो ग्राहक पर क्रोध नहीं करता; अपने व्यवहार से, गुणों से, विनम्रभाव से ग्राहक को संतुष्ट करता है। क्रोध का आना एक कमी है, कमजोरी है। इसका निराकरण सकारात्मक सोच द्वारा ही किया जा सकता है। नकारात्मक सोच तनाव लाता है इसलिए उसे छोड़ें। धार्मिक क्रियाएँ दोहराना और धर्म को जीवन में उतारना दोनों भिन्न-भिन्न बातें हैं। क्रोध न आवे इसके लिए अपने में ही समाधान खोजें। मौन रहने की प्रक्रिया को अपनाएँ। इसी प्रसंग में मन को निर्मल करने पर बल दिया।

'आय एम समथिंग' (मैं कुछ हूँ) ऐसा मानना अर्थात् विशिष्टता की आकांक्षा

होना, अपने आपको कर्ता-धर्ता मानकर जीना, दूसरे का तिरस्कार करना, दूसरों के गुणों को सहन नहीं करना - अहंकार की भावना का जनक है।

सजग रहो, मान को बढ़ावा मत दो। विनम्र होना, विनयदृष्टि होना मान का प्रतिकार है। अहंकार का प्रतिकार कृतज्ञता-ज्ञापन कर किया जा सकता है। कृतज्ञता विनय है। गुणों का मूल्यांकन सम्मान है। दूसरों के प्रति सम्मान, दूसरों के गुणों की प्रशंसा विनय का निखार है। योग्यता न होने पर भी सम्मान की ललक ईर्ष्या को जन्म देती है। सम्मान की आकांक्षा पुण्य का ह्रास है, पुण्य की निर्जरा है। विनम्रता व कृतज्ञता-ज्ञापन कर्तव्य है, इससे अपनी ही योग्यता बढ़ती है। अपनी त्रुटियाँ देखें, दूसरों की नहीं।

मन-वचन-काय की सरलता ही आर्जव है। छल, कपट, दिखावा-प्रदर्शन मायाचार है। विश्वास और ईमानदारी से अपना कार्य करें। स्पष्टवादी हों पर व्यवहार में सदैव मृदु रहें।

मन को मलिन न होने दें। वित्तेषणा, पुत्रेषणा और लोकेषणा लोभ के ही प्रकार हैं। हम दूसरों की ओर देखते हैं और लोभ को बढ़ावा देते हैं। जो अपने पास है वह दिखने लगे तो लोभ मिट जाय। लोभ से संताप होता है इसलिए संतोष धारण करें।

हम सच्चाई के प्रति संदेह न करें, घृणा न करें, आकांक्षा न करें और विचलित न हों। दूसरों की त्रुटियों को अपने स्वार्थ के लिए बिन्दु न बनावें। उन्हें सम्हलने व सुधरने का अवसर दें। प्रेम करें, जीवन राग-द्वेष से रहित हो जाये। सच्चाई का सम्मान नहीं करना ही झूठ के लिए प्रेरणा देना है। अपने में सिमटो। पहले सच्चे होवो फिर सच बोलो। अशुभ वचन बोलने से मौन रहना अच्छा। भाषा समिति का निर्वाह करें। हितकर, सारपूर्ण, संशयरहित, सुखद, अहितहर और आवश्यक वचन बोलें। कडुवा व कटु न बोलें। शरीर का घाव भर जाता है परन्तु वचन का घाव नहीं भरता, वह सदैव मन में सालता रहता है। सत्य का निर्वाह हो, वह बना रहे इसलिए उसकी साज-सम्हाल आवश्यक है, लापरवाही होने पर फिसलते देर नहीं लगती। चित्त मलिन न हो, हल्का व प्रफुल्लित रहे।

संयम आगे बढ़ने का साधन है। यह जीवन को अनुशासित व संकल्प से विभूषित

करता है। संयम बाड़ है, अपनी अनावश्यक वृत्तियों पर अंकुश लगाता है, आचरण का परिमार्जन करता है। इन्द्रियों और मन को सही दिशा देना, सुनियन्त्रित करना ही संयम है। जिनेश्वर का मार्ग ही मुक्ति का मार्ग है - यह विश्वास संयम का आधार है।

जीवन में अनावश्यक को तराशना ही तप है। पुरुषार्थ ही तप है। इच्छाएँ कम कर अनावश्यक को छोड़ने का संकल्प तप है। आवश्यकताओं का निर्धारण, सीमांकन करें। दोषों को हटाने हेतु गुणों को सबल व सशक्त बनाएँ। अपने पर नियन्त्रण रखने की दिशा में कदम उठाएँ। तप का अभ्यास जीवन को सुगम व सरल बनाता है। मन का तप मन को प्रसन्नता से भर देता है। हितमित बोलना वचन का तप है। काया का तप काया को कष्ट सहन करने हेतु सक्षम बनाता है। भेदज्ञानपूर्वक तपस्या ही तप है। तप में अहंकार का पोषण नहीं होता बल्कि आत्मिक क्षमता की वृद्धि और विकास होता है।

अवगुणों में आसक्ति छोड़ना ही त्याग है। छूटने का भाव त्याग है। जो छूटता है - छोड़ा जाता वह अपना नहीं है। कृतज्ञभाव से किया गया दान ही त्याग है। दान परिग्रह पर नियन्त्रण करता है। ग्रहण व त्याग में संतुलन करें, 'बीज राख फल भोगवे' वाली उक्ति को चरितार्थ करें। भोग से पुण्य नहीं होता, पुण्य त्याग से होता है। कृतज्ञता व अनासक्तिपूर्वक दान किये जाने पर ही त्याग होता है अर्थात् त्याग के बाद उसमें आसक्ति न हो। त्याग में न संक्लेश होता है न ही अहंकार को कोई स्थान दिया जाता है। त्याग में ध्यान रखें कि उससे किसी को कष्ट न हो। ग्रहण करते समय भी ध्यान रखें कि किस सीमा तक ग्रहण करना उचित है, ग्रहण किया भी जाय अथवा नहीं ?

इस प्रकार धर्म और उसके साधनों पर अपने विचार प्रकटकर मुनिश्री ने इन सबके परिणामस्वरूप होनेवाली स्थिति की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए इंगित किया कि धर्मसाधन में अपने और पराये का भाव न रहे। यहाँ कोई पराया नहीं पर 'मेरा' कुछ भी नहीं है। हम सब अपने सुख-दुःख में अकेले हैं। 'भीड़ में भी हूँ अकेला' ऐसा विचार जब घनत्व पाता है तब सामर्थ्य की पहचान होती है। स्वावलम्बी होकर जीने की प्रक्रिया व स्थिति का नाम ही 'आकिंचन्य' है।

इन्द्रिय संयम, सत्संग, भक्ति-पूजा-अर्चना से अपनी मानसिकता का विकास होता है। देहासक्ति से ऊपर उठना ही ब्रह्मचर्य है। धर्म-साधन से निर्मल परिणाम होना ही

आत्मचर्या है, वह ही ब्रह्मचर्य है। पाँचों इन्द्रियों व मन के नियन्त्रण का नाम ब्रह्मचर्य है। वह ही दिशा है, वह ही क्रिया है और वह ही धर्म-साधन है।

इस प्रकार क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौच धर्म हैं; सत्य, संयम, तप और त्याग साधन हैं और आकिंचन्य व ब्रह्मचर्य परिणाम हैं, अपने में स्थिति है।

गुरुवाणी प्रकाशन की ओर से सर्वप्रथम सन् १९७९ में एलाचार्य श्री विद्यानन्द जी महाराज के जयपुर प्रवास के प्रवचनों का संकलन 'गुरुवाणी' प्रथम पुष्प के रूप में प्रकाशित किया गया। सन् १९८१ में इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया। सम्प्रति दोनों अप्राप्य हैं। तत्पश्चात् १९७९ में ही आचार्य विद्यासागर जी महाराज के जयपुर में अल्पकालीन प्रवास के प्रवचनों का संकलन 'गुरुवाणी' द्वितीय पुष्प के रूप में प्रकाशित किया गया। सन् १९९७ में इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया गया। तृतीय पुष्प के रूप में एलाचार्य विद्यानन्द जी महाराज के १९७९ में इन्दौर चातुर्मास के अवसर पर दशलक्षण धर्म पर दिये गये प्रवचनों का संकलन प्रकाशित किया गया। सम्प्रति यह भी अप्राप्य है। सन् १९८८ में आचार्य विद्यानन्द जी महाराज के जयपुर प्रवास के प्रवचनों का संकलन 'गुरुवाणी' चतुर्थ पुष्प प्रकाशित किया गया। सन् १९९७ में आचार्य विद्यानन्द जी महाराज के जयपुर चातुर्मास के कुछ प्रवचनों का संकलन 'गुरुवाणी' पंचम पुष्प प्रकाशित किया गया। सन् १९९८ में इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया गया।

दशलक्षण धर्म पर 'गुरुवाणी' तृतीय पुष्प के पश्चात् संक्षिप्त रूप से, सरल भाषा में 'धर्म : साधन और स्थिति' नाम से दशलक्षण धर्म का महत्व व स्थान समझाने हेतु यत्न किया गया और अब दशलक्षण धर्म पर मुनिश्री क्षमासागर जी द्वारा सन् २००२ के भाद्रपद मास में दिये गये प्रवचनों का यह संकलन 'गुरुवाणी, षष्ठपुष्प' प्रकाशित किया जा रहा है। धर्म के स्वरूप को समझाने, उनका साधन कर अन्तः-बाह्य सभी आडम्बरों से, परिग्रह से मुक्त होकर ब्रह्म की चर्या में लीन होने तक के इस मार्ग के प्रति श्रद्धा जागृत कर अपने जीवन में प्रयोग हेतु यत्न करने व उसके परिणाम को प्राप्त करने के लक्ष्य को उत्तरोत्तर सुदृढ़, स्पष्ट व निर्मल बनाते जाने के उद्देश्य से इनका बार-बार दोहन, चिन्तन और अनुकरण आवश्यक है और वह ही अभ्यास है जो क्लिष्ट व दुरुह समस्याओं को सरल व स्पष्ट बना देता है। इसी कड़ी में यह हमारा प्रयास है। हृदयस्पर्शी, सरलरूप में मुनिश्री द्वारा दिया गया उद्‌बोधन हमारा मार्गदर्शन करे, धर्माचरण हेतु

निरन्तर प्रेरित करे, हममें निर्मलता की वृद्धि करे।

यह एक प्रवचन-संकलन है, आलेख-संकलन नहीं। प्रवचन व आलेख में स्वरूपतः मौलिक अन्तर है। प्रवचन-संकलन में वक्ता की कथन-शैली के स्वरूप को, उसकी मौलिकता को यथासंभव बरकरार रखना होता है जिससे पढ़ते समय वक्ता की छवि उभरकर साक्षात/ सामने आ जाये और लगे कि उनकी/वक्ता की वाणी ही कानों में पड़ रही है। इसलिए प्रवचन-सम्पादन के समय वक्ता की कथन-शैली को महत्व/ प्रमुखता दी जाती है। भाषा को या उसकी संरचना को नहीं। मुनिश्री के प्रवचनों का सम्पादन करते समय इस बात का यथासंभव ध्यान रखा गया है।

इस पुस्तक के प्रकाशन में जो कमियाँ-त्रुटियाँ हमारी दृष्टि में आने से रह गई हैं उनकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित करें। इस हेतु आपके सहयोग का स्वागत है।

अन्त में इस प्रकाशन में सहयोग प्रदान करनेवाले सभी सहयोगियों के प्रति आभार प्रकट करते हैं। मुद्रण के लिए पॉपुलर प्रिन्टर्स भी धन्यवादार्ह है।

श्री गुरुचरणों में विनयावनत नमन् !

तीर्थंकर पुष्पदन्त जयन्ती
मार्गशीर्ष शुक्ल प्रतिपदा
वीर निर्वाण संवत् २५२९
५.१२.२००२

- गुरुवाणी परिवार

तृतीय संस्करण

'गुरुवाणी' के छठे पुष्प की एक वर्ष की अवधि में ही इस तृतीय आवृत्ति के प्रकाशन के प्रमुख कारण सर्वप्रथम श्री गुरु के प्रति आस्था व भक्ति, उनकी सीधे, सरस व सरल शब्दों में दुरूह विषयों को भी सहजता से समझाने की पद्धति व सुगम शैली और धर्मप्रेमी महानुभावों की धर्म के सिद्धान्तों को समझने, जानने व ज्ञानार्जन की उत्सुकता रहे हैं। प्रकाशन के ऐसे स्वागत द्वारा प्रकाशकों के प्रयास का जो अनुमोदन किया गया है वह उत्साहवर्धक है। समय, क्षमता व साधनों का ऐसा उपयोग संभव हो सका व हो रहा है, इसके पीछे गुरुजनों का आशीर्वाद व प्रेरणा व पाठकों का समर्थन ही प्रमुख आधार रहे हैं। यह तृतीय आवृत्ति धर्म के प्रचार व प्रसार का माध्यम बनकर मन की ग्रंथियों को सुलझाते हुए व्यावहारिकता से परे स्वाभाविक रूप से आत्मधरा को उज्ज्वलता व निर्मलता प्रदान करेगी, इसी अपेक्षा व आशा के साथ यह संस्करण आपके समक्ष प्रेषित है।

2.9.2003

- गुरुवाणी परिवार

उत्तम क्षमा

- **अपने भीतर कहीं बाहर से धर्म लाने की प्रक्रिया नहीं करनी बल्कि हमारे भीतर जो विकृतियाँ हैं उनको हटाना है। जैसे-जैसे हम उनको हटाते जायेंगे धर्म आपो-आप हमारे भीतर प्रकट होता जायगा।**
- **जो जितना सामर्थ्यवान होगा वह उतना क्षमावान भी होगा। जो जितना क्रोध करेगा वह उतना ही कमज़ोर होगा।**

आज हम सभी लोग हमेशा की तरह अपने जीवन को अच्छा बनाने के लिए विचार करने को यहाँ एक साथ बैठे हैं। अब हमें केवल कुछ विचार ही नहीं करना है बल्कि हमने अपने जीवन में जिन चीजों को श्रेष्ठ माना है उनको इन विशिष्ट दिनों में प्रकट करने की कोशिश भी करनी है। ये दस दिन हमारे लिए प्रयोग के दिन बन जावें; इन दस दिनों में हम अपने जीवन को इस तरह की गति दे सकें कि जो शेष जीवन के दिन हैं वे भी ऐसे ही हो जावें; इस रूप ही हो जावें। वे भी इतने ही अच्छे हो जायें जितने अच्छे हम ये दस दिन बितायेंगे। असल में हम लोग इन दस दिनों को बहुत परम्परागत ढंग से व्यतीत करने के आदी हो गये हैं। हमें थोड़ा इस बारे में विचार करना होगा। घर में बिटिया की शादी होती है तो उसकी तैयारी करते हैं, घर से चार कदम बाहर जाना है तो उसकी तैयारी करनी पड़ती है, यदि एग्ज़ाम (परीक्षा) सामने आ जाये तो विद्यार्थी उसकी तैयारी करते हैं, मेहमान को घर में आना है तो हम उसकी भी तैयारी करते हैं। जब जीवन को अच्छा बनाने का कोई पर्व, कोई त्यौंहार या कोई अवसर हमारे जीवन में आये क्या तब हम उसकी तैयारी करते हैं ? हम करते हैं उसकी भी तैयारी लेकिन वह तैयारी बहुत बाहरी होकर रह जाती है। काश, हम थोड़ी भीतर की तैयारी भी कर लें! बाहरी तैयारी ये है कि हमने पूजन कर ली, हम आज एकासना कर लेंगे, अगर सामर्थ्य होगी तो कोई रस छोड़ देंगे, सब्जियाँ छोड़ देंगे, अगर और सामर्थ्य

होगी तो उपवास कर लेंगे। ये जितनी भी तैयारियाँ हैं ये सब बाहरी तैयारियाँ हैं। ये भी जरूरी हैं, ऐसा नहीं है कि ये जरूरी नहीं हैं। लेकिन ये तैयारियाँ तो हम कई बार कर चुके हैं; हमारे जीवन में कई बार अवसर आ चुके हैं ऐसे दशलक्षण पर्व मनाने के। लेकिन ये सब करने के बाद भी हमारी लाइफ स्टाइल (जीवन-शैली) में कोई चेंज (परिवर्तन) नहीं हुआ तो बताइयेगा कि इन दस दिनों को हमने जिस तरह से अच्छा मानकर व्यतीत किया है उनका हमारे ऊपर क्या असर पड़ा ? यह प्रश्न हमें किसी दूसरे से नहीं पूछना, अपने आप से पूछना है। मैं अपने से पूछ रहा हूँ - ऐसा ही समझ लें। यह प्रश्न हम सबके भीतर उठना चाहिए। इसका समाधान, उत्तर नहीं, उत्तर तो लॉज़िक (तर्क) से दिये जाते हैं, समाधान भावनाओं से प्राप्त होते हैं हमारे भीतर। अत: इसका उत्तर नहीं समाधान खोजना चाहिए। इसका समाधान क्या होगा ? क्या हमारी ऐसी कोई तैयारी है कि जब क्रोध का अवसर आयेगा तो हम क्षमाभाव धारण करेंगे; जब कोई अपमान का अवसर आ जायेगा तब भी हम विनय से विचलित नहीं होंगे; जब भी कोई कठिनाई होगी तब भी, उसके बावजूद भी हमारी सरलता बनी रहेगी; जब मलिनताएँ हमें घेरेंगी तब भी हम पवित्रता को विस्मृत नहीं करेंगे; जब तमाम लोग झूठ के रास्ते पर जा रहे होंगे तब भी मैं सच्चाई को नहीं छोड़ूँगा; जब भी मेरे भीतर पाप-कर्मों का मन होगा मैं अपने जीवन में अनुशासन व संयम को बरकरार रखूँगा/रख सकूँगा; जब मुझे इच्छाएँ घेरेंगी मैं इच्छाओं को जीत लूँगा; जब सारी दुनिया जोड़ने की दौड़ में, होड़ की दौड़ में शामिल है तब क्या मैं छोड़ने की दौड़ लगा पाऊँगा; जबकि मैं अभी दुनियाभर की चीजों को अपना मानता हूँ ? क्या एक दिन ऐसा आयेगा मेरे जीवन में कि मैं अपने को भी सबका मानूँगा ? जब मैं इतना उदार हो सकूँगा कि किसी के प्रति भी मेरे मन में दुर्व्यवहार नहीं होगा! क्या इस तरह की कोई तैयारी इन दस दिनों में हमें करनी चाहिए ? जरूर करनी चाहिए। यदि ऐसी कोई तैयारी एक बार भी हम इन दस दिनों में कर लेंगे; एक बार हम अपने जीवनचक्र को गति दे देंगे तो वर्ष के शेष तीन सौ पचपन दिन इन दस दिनों के अनुसार ही रेग्युलेट (नियन्त्रित/सुव्यवस्थित) होंगे। अभी तक तो होता यह है कि तीन सौ पचपन दिन जितनी बेतरतीबी से गुजरते हैं वह सारी बेतरतीबी हम इन दस दिनों में री-अरेंज (पुनर्व्यवस्थित) करने की कोशिश करते हैं... और फिर बड़ी जद्दोजहद के बाद दस दिन जैसे ही व्यतीत होते हैं - ग्यारहवें दिन हमारे अन्दर ऐसी कसमसाहट मचती है उन सब सीमाओं को, सब मर्यादाओं को तोड़ देने के लिए जिनको हमने खुद अपने चारों तरफ अपनी सुरक्षा के लिए बाँधा था/लगाया था।

हींग की डिब्बी में केसर

आचार्य (विद्यासागरजी) महाराज ने पर्यूषण पर्व के पहले आहारजी में एक छोटा-सा उदाहरण दिया था -

एक व्यक्ति किसी के घर में मेहमान बन के गया। उनके यहाँ केसर का (केसरयुक्त) हलुवा बना था। वह उन (मेहमान) को बहुत अच्छा लगा। उन्होंने सोचा कि अपन भी अपने घर में ऐसा हलुवा बनायेंगे। उन्होंने (मेजबान से) पूछ लिया कि आपने हलुवा कैसे बनाया था ? मेजबान ने बता दिया कि ये-ये चीजें हमने मिलाई थीं और ऐसे बनाया था, इसमें केसर भी डाली थी - इसलिए इतना स्वादिष्ट बना ये। ठीक है, मेहमान ने सोचा, अपन भी बनायेंगे। उन्होंने अपने घर में बनाया लेकिन कुछ मजा नहीं आया। अब क्या करें ? कैसे करें ! सोचते रहे।

एक दिन वे (मेजबान) रास्ते में मिल गये तो उनसे पूछ लिया कि - 'आपके घर में जो केसर का हलुवा बना था वह तो बड़ा स्वादिष्ट था लेकिन हमने (अपने घर में) बनाया तो ढंग का ही नहीं बना। कभी हमारे यहाँ आइये तो बनाकर बता दीजिए।

बोले - 'ठीक है, अभी चले चलते हैं, अभी देखते हैं कि आपने क्या डाला था ? कैसे किया था ?' देखा जाकर के, सब एकदम ठीक था। पूछा - 'केसर डाली थी ?'

'हाँ, बिल्कुल, वह बढ़ियावाली लाये थे, वही डाली थी।'

उन्होंने फिर पूछा - 'काहे में रखी थी केसर ?'

'काहे में रखी थी! डिब्बी में रखी थी।'

'लाना जरा वह डिब्बी' - उन्होंने कहा। केसर जिस डिब्बी में रखी थी वह डिब्बी लाये। अब समझ में आ गया कि गड़बड़ कहाँ है ? इस डिब्बी में पहले क्या रखा था ? 'हींग।' हाँ, ये बात तो आप सबको भी मालूम है कि वह केसर क्यों बिगड़ गई ? क्योंकि उस डिब्बी में पहले बदबूदार हींग रखा था।

यदि इन दस दिनों तक हम धर्म का श्रवण करेंगे और जिस डिब्बी में हम धर्म को रखेंगे वह डिब्बी पहले से ही कषायों की बदबू से भरी होगी तो धर्म का आनन्द नहीं आयेगा - इतनी-सी बात अभी तक हमें समझ क्यों नहीं आई ? चलो अभी तक नहीं आई तो कोई बात नहीं, आज आ गई हो अगर तो भी अपना काम चल जायेगा। हमें ऐसी ही तैयारी करनी चाहिए।

व्रण, ऋण, अग्नि और कषाय

प्राप्त परम्परा में दस प्रकार से धर्म के स्वरूप बताये गये हैं। उनको हम धारण करें इसके लिए जरूरी है कि पहले हम अपनी कषायों को धीरे-धीरे कम करते जायें। भैया ! वास्तव में इन दस दिनों में अपने भीतर कहीं बाहर से धर्म लाने की प्रक्रिया नहीं करनी है बल्कि हमारे भीतर जो विकृतियाँ हैं उनको हटाना है। जैसे-जैसे हम उनको हटाते जायेंगे धर्म आपो-आप हमारे भीतर प्रकट होता जायेगा। वहाँ पर तो डिब्बी में से हींग हटाकर फिर बाद में केसर रखनी पड़ती है पर यहाँ ऐसा नहीं है। यहाँ तो जैसे ही हम अपने भीतर की कषायों को हटाते हैं वैसे ही, वहीं की वहीं धर्म हमारे जीवन में आना शुरू हो जाता है।

ये सब चीजें बहुत थोड़ी और छोटी-छोटी दिखाई पड़ती हैं लेकिन आचार्य भगवन्त कहते हैं कि सावधान रहना ! ये छोटी-छोटी और थोड़ी दिखनेवाली बातें ही बढ़ते-बढ़ते इतनी बढ़ जाती हैं कि सारे जीवन को नष्ट कर देती हैं। कोई व्यक्ति जब किसी से रुपये उधार लेता है तब सोचता है कि थोड़ा-सा तो है ही, ज्यादा थोड़े हैं, चुकता कर दूँगा। लेकिन पूरी जिन्दगी उस उधार को चुका नहीं पाता, थोड़ा होने के बाद भी। घाव छोटा-सा मालूम पड़ता है लेकिन यदि लापरवाही हो जावे तो सड़कर नासूर बन जाता है और जिस हिस्से में होता है उस हिस्से को नष्ट कर देता है। अग्नि की चिंगारी जरा-सी दिखाई पड़ती है लेकिन अगर किसी महल में वह चिंगारी लग जाये तो (सारे) महल को जलाकर नष्ट कर देती है। जैसे कि व्रण (घाव), ऋण, अग्नि - ये तीनों चीजें बहुत थोड़ी मालूम पड़ती हैं लेकिन इनके असर बहुत अधिक होते हैं ठीक इसी तरह कषायें बहुत थोड़ी दिखाई पड़ती हैं पर उनके असर बहुत अधिक दिखाई पड़ते हैं इसलिए बहुत सावधानी चाहिए होती है। इनमें लापरवाही हमारे जीवन को नष्ट कर देती है। जैसे - वट का वृक्ष, सबने देखा होगा, बहुत बड़ा होता है लेकिन उसका बीज कितना छोटा होता है! जैसे - इंजेक्शन की सिरिंज का छेद कितना बारीक होता है, लेकिन वह हमारे भीतर प्रवेश कर जाये तो दस-बीस एम.एल. (मिली लीटर) दवा हमारे भीतर इंजेक्ट (प्रवेश) कर जाती है, सिरिंज/निडिल इतनी बारीक है और इतनी-सारी दवा भीतर डाल देती है। ठीक ऐसे ही इन कषायों का स्वभाव है, होती हैं ये खसखस के दानों के समान लेकिन इनको (भीतर) प्रवेश मिलता चला जाये तो ये बढ़-बढ़कर वटवृक्ष के समान एरिया (क्षेत्र) को प्रकट कर देती हैं; हमारे पूरे जीवन को पैक-अप (आच्छादित) कर लेती हैं, हम इनकी ग्रिप (पकड़, नियन्त्रण) में आ जाते हैं।

हमारी जरा-सी देर की कमजोरी हमें मजबूर बना देती है इन कषायों को करने के लिए। इसलिए सावधानी बहुत आवश्यक है।

क्षमा-स्वभाव है

हमारा स्वभाव है - क्षमाभाव धारण करना लेकिन इस स्वभाव को विकृत करने-वाली चीजें कौनसी हैं - इस पर भी थोड़ा-सा विचार करना चाहिए। क्रोध न आवे वास्तव में तो श्रेष्ठ क्षमा ये ही है। क्रोध आ जाने के बाद कौन कितनी जल्दी उसे खत्म कर देता है यह उसकी अपनी क्षमता है। 'क्षम्' धातु से 'क्षमा' शब्द बना है - जिसके मायने हैं - सामर्थ्य, क्षमता। सामर्थ्यवान व्यक्ति को ही प्राप्त होता है यह क्षमा का गुण। जो जितना सामर्थ्यवान होगा वह उतना क्षमावान भी होगा, जो जितना क्रोध करेगा मानियेगा वह उतना ही कमजोर होगा। लगता यह है कि जो जितना टैरर क्रिएट (आतंक) करके रखता है वह उतना ही सशक्त और बलवान है लेकिन जो जितना प्रेमपूर्वक अपने जीवन को जीता है मानियेगा वह उतना ही अधिक सामर्थ्यवान है। हम जरा देखें कि हमारी ये जो सामर्थ्य है (जो कि हमारा स्वभाव है) वह कैसे कमजोरी में तब्दील हो गई ? कैसे वह हमारी कमजोरी बन गई ? कैसे हमारे भीतर ये कषायें प्रवेश करके हमारे जीवन को विकृत करती हैं ? हम इन पर विजय कैसे प्राप्त करें ?

क्रोध का कारण - अपेक्षाओं की पूर्ति न होना

हम किन स्थितियों में क्रोध करते हैं ? एक ही स्थिति है - हमारी अपनी अपेक्षाओं की पूर्ति नहीं होना। यदि हमारी अपेक्षाओं की पूर्ति होती रहती है तो हम बड़े शान्त - बड़े सज्जन दिखाई पड़ते हैं लेकिन जब हमारी अपेक्षाओं की पूर्ति नहीं होती है तब हमारी अपनी वास्तविकता सामने आना शुरू हो जाती है। अपेक्षाएँ पूरी न होने पर हमारे भीतर कषाएँ बढ़ती हैं और धीरे-धीरे हमारे जीवन को नष्ट कर देती हैं - ये सब आपको मालूम है। क्रोध का एक ही कारण है - अपेक्षा। जिसकी जितनी ज्यादा अपेक्षा है वह तुरन्त ही उतने ज्यादा क्रोध में घिर जायेगा। (माता-पिता को) बेटे से अपेक्षा थी कि सौ में से नब्बे नम्बर लायेगा, वह अस्सी लाया है, (उन माता-पिता का) मन करता है कि डाँट दें - चार कड़ी बातें सुनायें उसे - ये क्या चीज है ? ये कैसे आ गया गुस्सा ? जबकि नम्बर तो अच्छे आये हैं ? पर वे अधिक की अपेक्षा कर रहे हैं इसलिए आ गया गुस्सा, ये है गुस्से का कारण। जहाँ-जहाँ हमारी अपेक्षाएँ रहेंगी हम क्रोध और आवेग में लिप्त हो जायेंगे, असहिष्णु हो जायेंगे। हमें ये देखना चाहिए कि हम अपने जीवन में

कितनी अपेक्षाएँ रखते हैं ? हर आदमी दूसरे से अपेक्षा रखता है अपने प्रति अच्छे व्यवहार की और जब उसकी वह अपेक्षा पूरी नहीं होती तब वह स्वयं अपने जीवन को तहस-नहस कर लेता है क्रोध करके - ऐसा देखने में आता है कि नहीं आता ?

एक व्यक्ति रास्ते में चले जा रहे हैं। उनका बेटा भी साथ में है। पॉकिट से रूमाल निकालकर मुँह पौंछते समय दस का एक नोट नीचे गिर जाता है। बेटा नहीं देख पाता यह। वह स्वयं भी नहीं देख पाता। पीछे से आनेवाला एक अन्य व्यक्ति यह देख लेता है, वह नोट उठाकर उस सज्जन को दे देता है, सज्जन उन्हें थैंक्स (धन्यवाद) कहते हैं और बेटे को गुस्से से देखते हैं - 'क्यों रे ! इतना भी नहीं देख सकते थे ?' इससे अपेक्षा है, जिससे अपेक्षा है उसके प्रति क्रोध है; जिससे कोई अपेक्षा नहीं थी उसने उठाकर दे दिया तो उसे थैंक्स ! थोड़ा और आगे बढ़े। अबकी बार चश्मा पौंछने के लिए फिर रूमाल निकाला, फिर एक नोट गिर गया। अबकी बार बेटा सावधान था, उसने वह नोट उठाकर पिता को दे दिया, (पिता ने) उसे कोई थैंक्स (धन्यवाद) नहीं दिया। उसे तो यह करना ही था। तुम नहीं करोगे तो कौन करेगा ? जिससे अपेक्षा है उसके प्रति कृतज्ञता का भाव भी नहीं है अपेक्षा पूरी होने पर; और अपेक्षा पूरी न होने पर तुरन्त क्रोध का भाव उत्पन्न हो जाता है।

हमें दिनभर में यह विचार करना है कि कहाँ-कहाँ अपेक्षा आरोपित करता हूँ और अपेक्षा-पूर्ति होने पर किस तरह अकृतज्ञ हो जाता हूँ ; अपेक्षा की पूर्ति नहीं होने पर किस तरह से क्रोध करता हूँ ? मुझे तो एक ही कारण समझ में आता है क्रोध का - मेरी अपनी अपेक्षाएँ, और उन अपेक्षाओं को मैं दूसरों से पूरी करवाना चाहता हूँ। मेरी अपने स्वयं से कोई अपेक्षा नहीं है । जबकि व्यक्ति की अपने-आप से भी अपेक्षा होनी चाहिए कि वह अपने जीवन को अच्छा बनाये। पर हमारी अपेक्षा होती है कि दूसरा अपने जीवन को अच्छा बनावे। ये ही हमारे क्रोध का कारण है। हम लोग क्षमा भी धारण करते हैं लेकिन हमारी क्षमा बहुत अलग ढंग की होती है। रास्ते से चले जा रहे हैं, किसी का धक्का लग जाता है, (तो मुड़कर) देखते हैं - कौन साहब हैं वे ? अगर (वह धक्का लगानेवाला) अपने से कमजोर है - तो (वहाँ) अपनी ताकत दिखाते हैं - 'क्यों रे, देखकर नहीं चलता !' यदि (वह) ज्यादा ही कमजोर है तो शरीर की ताकत (भी) दिखा देते हैं। लेकिन अपन बहुत होशियार हैं - अगर वह बलवान है तो अपन क्षमाभाव धारण कर लेते हैं। धक्का देनेवाला अगर बलवान है तो अपन कुछ नहीं बोलते, या कहते हैं - 'कोई बात नहीं भाई साहब। होता है ऐसा।' वहाँ एकदम क्षमा धारण कर लेते हैं। यह मजबूरी में की गई क्षमा है।

दुकान पर ग्राहक आये हैं, वे कहते हैं - 'ये चीज दिखाओ।'

'हाँ, देखो साहब।'

'ये नहीं, वह चीज दिखाओ।'

'हाँ, देखो साहब।'

'ये नहीं - वह', ऐसे पचास चीजें देख लीं, बाद में उठते हुए धीरे-से कहा - 'फिर, कभी आऊँगा, अभी तो पसंद नहीं आया।' तब भी अन्दर क्रोध नहीं आता, आता है क्या ? जिस दुकानदार को क्रोध आयेगा दुकानदारी मिट जायेगी उसकी। कोई दुकानदार नहीं करेगा क्रोध। ऐसे स्वार्थवश भी हम क्षमाभाव धारण करते हैं, अपनी मजबूरी से। और कई बार तो हम क्षमाभाव इसलिए धारण करते हैं ताकि हमें सम्मान मिल सके - 'भैया ! क्या क्षमाभाव है। कितनी ही बातें कह लो इनसे, (लेकिन) बड़े क्षमाभावी हैं।' लेकिन उसके भीतर इंटेंशन (अभिप्राय/उद्देश्य) क्या है - ये विचार करना पड़ेगा। किसी सांसारिक आकाँक्षा को धरकर भी हम क्षमाभाव धारण करते हैं। अपने मान-सम्मान के लिए भी हम चार लोगों के बीच क्षमाभाव धारण करते हैं लेकिन ये सब हमारी सामर्थ्य के प्रतीक नहीं हैं। ये तो हमारे अभ्यस्त माइंड (मस्तिष्क) की प्रक्रिया है। हम देखें कि क्या हम वास्तव में अपनी क्षमता बढ़ाकर अपने क्षमाभाव को प्राप्त कर सकते हैं ? एक ही चीज है कि हम अपनी अपेक्षाओं को कम करें। अगर कोई हमारी मज़बूरी है तो हम उसे मज़बूरी मानकर स्वीकार करें। अपने स्वार्थ को छोड़कर व्यवहार करें तो कोई वजह नहीं है कि हमारे जीवन में अपनी जो वास्तविक क्षमा है वह न आये।

हम थोड़ा विचार करें इस चीज पर कि क्रोध को हम कैसे जीत सकते हैं ? एक व्यक्ति ने कहा कि 'मैं जैन धर्म व भगवान महावीर से बहुत प्रभावित हूँ। (उसने कहा कि) सब लोग कहते हैं कि क्रोध नहीं करना चाहिए लेकिन जैन दर्शन यहीं पर नहीं रुकता, वह इससे आगे भी कहता है कि क्रोध आ जाने पर क्या करना चाहिए ?' क्रोध नहीं करना चाहिए - यह कहना तो बहुत आसान है लेकिन अगर क्रोध आ जाता है तो क्या करना चाहिए ? इसका सॉल्यूशन (समाधान) क्या है ? अलग-अलग लोगों ने अलग-अलग तरीके दिये हैं - संभव है कि हमारे भीतर क्रोध आ जाये लेकिन हम जरा इस बात को डिसाइड (निश्चित/निर्धारित) करें कि क्रोध कितना करना है ? कब तक करना है ? कितनी इन्टेन्सिटी (प्रबल मात्रा/प्रगाढ़ मात्रा) का करना है ? ऐसा लगेगा कि ये बातें तो सिर्फ कहने-सुनने की हैं; नहीं, ऐसा नहीं है। यदि हम शांति से बैठकर इन सब पर विचार करें कि जब हमारे साथ क्रोध की ऐसी स्थिति बन जाये, तब हम क्या कर

सकते हैं ? पहले हम सॉल्यूशन (समाधान) पर विचार कर लें ताकि जब क्रोध आये तब उस सॉल्यूशन (समाधान) का यूज (उपयोग) कर सकें।

सकारात्मक सोच

पहली चीज है - हमें हमारा सोच सकारात्मक बनाना चाहिए। क्रोध को जीतने के लिए पहली चीज है - सकारात्मक सोच, पॉजिटिव थिंकिंग (जिसे) सब समझते हैं। कोई भी घटना जो हमारे सामने घटित होती है हम उसमें जो भी खराबियाँ हैं, कमियाँ हैं, उन पर बहुत ध्यान देते हैं (ऐसी स्थिति में) हमारे अन्दर क्रोध आये बिना नहीं रहेगा। उसमें जो अच्छाइयाँ हैं अगर हम उनकी तरफ देखें तो हमारे भीतर सौहार्द आये बिना नहीं रहेगा। कमियाँ देखकर घृणा भी आती है, क्रोध भी आता है; अच्छाइयाँ देखकर सौहार्द और प्रेम आता है। उदाहरण के लिए - ये जो पूजा करनेवालों के बीच में स्थान खाली हैं (जिन पर कोई पूजार्थी नहीं बैठे हैं) उस पर विचार करें, हाँ पुराने एग्जाम्पल (उदाहरण) नहीं दे रहा मैं, यहीं का उदाहरण देखें - दूर न जायें। जो पीछे बैठे हैं वे सोच रहे हैं - 'ठीक है, सब देख लिया, (व्यवस्थापकों ने) अपनों-अपनों के नाम आगे लिख लिए' - यह केवल एक विचार बता रहे हैं किसी को कॅमिट (आरोपित) नहीं कर रहे, किसी पर कॅमेंट (टीका/टिप्पणी) नहीं कर रहे हैं। हम तो देख रहे हैं कि हमारे अन्दर किस तरह के विचार उत्पन्न होते हैं ? हममें सकारात्मक सोच है या नहीं ? बातें हम बड़ी-बड़ी करते हैं, पूजा-प्रक्षाल भी रोज करते हैं, हो सकता है - उपवास भी कर लें आज, हाँ कर सकते हैं। ये सब बहुत आसान है, कोई बहुत बड़ी चीज नहीं है लेकिन आपके भीतर सकारात्मक सोच है कि नहीं - ये सबसे बड़ी बात है। सभी के अपने-अपने विचार हैं। किसी के विचार हैं कि ये जो बीच में जगह छूटी हुई है लगता है कहीं न कहीं कुछ गड़बड़ी है । क्यों छोड़ी गई है ये जगह ? या तो इन्होंने (व्यवस्थापकों ने) यहाँ किसी और को आवंटित किया है या फिर किसी ने कोई गेप (रिक्त/खाली) रख दिया कोई ब्लैंक (खाली) रसीद काटकर!

स्वयं जो बैठकर पूजा कर रहे हैं, जो बढ़िया जगह मिल गई है उसके बारे में कोई विचार नहीं, पर ये जो गड़बड़ी है बस उसका विचार है। ये क्या चीज है ? (ये जो नकारात्मक भाव है) ये अपने भीतर से गया कि नहीं ? यदि नहीं गया तो मानिये कि अभी धर्म पूरा नहीं हुआ है, बस धर्म की क्रियाएँ दोहराई जा रही हैं। धर्म की क्रियाएँ दोहरा लेना बहुत आसान है लेकिन जीवन में धर्म आ जावे - यह बहुत कठिन है।

अब दूसरा विचार - यदि मुझे (पूजा का) जल्दी से मालूम पड़ जाता तो मैं थोड़ा

जल्दी आकर अपना नाम लिखवा देता तो मुझे भी आगे की जगह मिल जाती। जो ये इतने लोग आगे बैठे हैं इन्हें जैसे ही सूचना मिली होगी वैसे ही ये चले गये होंगे - तो इन्हें आगे की जगह मिल गई। मैं थोड़ा लेट हो गया। अगली बार से मैं थोड़ा ध्यान रखूँगा। और फिर जैसा भी है वह ठीक है, पीछे भी जहाँ मैं बैठा हूँ वहाँ मेरी जगह और कोई बैठता! किसी न किसी को तो पीछे बैठना ही पड़ेगा। जब इतने (लोगों की) व्यवस्था की गई है तो पाँच सौवाँ (अन्तिम पूजार्थी) व्यक्ति भी कोई न कोई तो होगा ही, उसे पीछे बैठना ही पड़ेगा! मैं अगर पाँच सौवाँ (अन्तिम पूजार्थी) भी हूँ तो भी मुझे प्रसन्नतापूर्वक भगवान की भक्ति करनी चाहिए। मुझे पहला नम्बर क्यों नहीं मिला ? इस पर विचार न करके यह विचारना चाहिए कि यदि मैं पाँच सौ एक नम्बर पर आता तो ! तो मैं पूजा में बैठ ही नहीं पाता, अच्छा हुआ कि मुझे पाँच सौवाँ (अन्तिम पूजार्थी का) नम्बर तो मिल गया - ये है सकारात्मक सोच। अगर मैं और थोड़ा लेट कर देता तो मुझे यह पाँच सौवाँ नम्बर भी नहीं मिल पाता तो मैं इस अनुष्ठान में ही नहीं बैठ पाता - ये है सकारात्मक सोच। यहीं का उदाहरण है, दूर नहीं जाते।

नकारात्मक सोच छोड़ें

क्या ऐसा सकारात्मक सोच बन गया है ! या नहीं बना ? अगर नहीं बना तो कोई बात नहीं । नकारात्मक सोच जिन्दगियों के संस्कार हैं, कौन आज के हैं भैया ! जिन्दगी से यही (नकारात्मक सोच) तो करते आ रहे हैं। अब क्या करना है ? करना ये है कि अब मैं अपने भीतर नकारात्मक सोच बन्द करूँगा/खत्म करूँगा (और) सकारात्मक सोच शुरू करूँगा ताकि मेरे भीतर क्षमाभाव की सामर्थ्य उत्पन्न हो। सामर्थ्यवान को ही क्षमाभाव धारण होता है, यदि क्षमाभाव धारण हो जाये तो सामर्थ्य और बढ़ जाती है।

क्रोध में ईंधन न डालें

(क्रोध को कम करने के लिए) दूसरे नम्बर का उपाय है - वातावरण को हल्का बनाना। हमेशा इस बात का ध्यान रखना कि जब भी क्रोध आयेगा तब मैं उसमें ईंधन नहीं डालूँगा, दूसरा कोई ईंधन डालेगा तो मैं वहाँ से हट जाऊँगा। क्रोध एक तरह की अग्नि है, एनर्जी (ऊर्जा) है, वह दूसरे के द्वारा भी एक्सटेंड (विस्तारित) हो सकती है और मेरे द्वारा भी एक्सटेंड (विस्तारित) हो सकती है, ऐसी स्थिति में वातावरण को हल्का बनाना है। क्रोध को बढ़ाने का कोई चांस (अवसर) हमें नहीं देना है - यही कमाण्ड (आदेश) हमें देना है, अगर क्रोध आ जाये तो! क्रोध आ जाये तो उसमें

निगेटिव थॉट (नकारात्मक सोच) बंद करके पॉजिटिव थॉट (सकारात्मक सोच) लाना है - यही तो बताया है। दूसरा उपाय यही है कि वातावरण को थोड़ा हल्का करें। वातावरण कैसे हल्का होता है - इसके लिए छोटे-छोटे से उदाहरण देते हैं -

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' (एक साहित्यकार हैं उन) के पिता (के जीवन) का एक संस्मरण है - उनके पास सुबह-सुबह एक व्यक्ति आता है, जब चाय का समय होता है उस समय। बड़ा अच्छा समय होता है वह। सुबह किसी को ज्यादा गुस्सा आता भी नहीं है। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव देखकर के ही कषाय आती है। थोड़ा कमजोर शरीरवाला हो तो चिड़चिड़ा व क्रोधी होने की संभावना ज्यादा होती है - यह द्रव्य की अपेक्षा से है; क्षेत्र की दृष्टि से अच्छा स्थान हो तो भी कषाय की संभावना कम होती है; काल–सुबह का समय है तो गुस्सा कम आयेगा, शाम को थके-हारे होंगे तो गुस्सा जल्दी आयेगा और भाव–भाव की चर्चा तो अपन कर ही रहे हैं। भाव यदि नकारात्मक हो तो वातावरण को और अधिक तनावयुक्त बना देगा। यदि क्रोध को हल्का बनाने का भाव/सोच नहीं है तो वह बढ़ता ही चला जायेगा, प्रोलांग (प्रवर्द्धन) करता जायेगा। क्रोध कितनी देर करना है और कितनी इन्टेन्सिटी (तीव्रता/प्रगाढ़ता) का करना है यह हमारे भीतर निहित है, हमारे ऊपर निर्भर है यदि हमारी तैयारी है तो। क्रोध अब आ तो गया पर उसे लम्बा कितना करना है, उसकी इन्टेन्सिटी (तीव्रता/प्रगाढ़ता) कितनी रखनी है - ये काम हमें सीखना पड़ेगा। क्रोध सबको आता है, किसे नहीं आता, मुझे भी आता है लेकिन जल्दी से उसकी डिग्री कम कर देवें और जल्दी से उसे खत्म भी कर देवें। सुबह का गुस्सा शाम तक भी साफ हो जावे, और मामला साफ-सुथरा हो जावे तो भी बड़ी जीत है और कितनी इन्टेन्सिटी (तीव्रता/प्रगाढ़ता) का शुरू हुआ था - अगले क्षण उसकी इन्टेन्सिटी (तीव्रता/प्रगाढ़ता) न बढ़ जावे। होता ये है कि जरा-सी इन्टेन्सिटी से शुरू होता है और बढ़ते-बढ़ते आग लग जाती है, फिर तो आपे से बाहर हो जाते हैं अपन। प्रयास ये होना चाहिए कि इसे कैसे रोका करें ? इसे हम हल्का कैसे करें ? डाइल्यूट (मन्द/क्षीण) कैसे करें ?... हाँ तो, वह व्यक्ति आता है सुबह का इतना बढ़िया समय है, चाय का समय है और वह गालियाँ देना शुरू कर देता है। पूजन में लिखा तो है - रोज पढ़ते भी हैं कि ''गाली सुन मन खेद न आनो'' रोज पढ़ते हैं, हाँ पूरी याद भी है; याद करने से नहीं होगा कुछ, दोहरा लेने से नहीं होगा कुछ। जिस समय ऐसी परिस्थिति आये उस समय में इसका उपयोग हम कर लें - इसके लिए है ये पूजा। मैं तो सोचता हूँ कि पूजा रियाज (अभ्यास) है। हम रियाज़ कर रहे हैं ये ताकि बाहर जब मैदान में उतरें तो (हम) जरा ठीक तरह से बिहेव (व्यवहार) कर सकें, लेकिन वहाँ चूक जाते हैं। यहाँ मैदान में तो

सब शेर हैं लेकिन बिहेव (व्यवहार) में सब साफ हैं।

हाँ, तो वह (आगन्तुक व्यक्ति) गालियाँ दे रहा है और ये सामने बैठे मुस्कुराये चले जा रहे हैं। जब कोई गाली दे और सामनेवाला मुस्कुराता रहे तो और तेज़ी से गुस्सा बढ़ता है। अब उन्होंने मुस्कुराना बंद कर दिया, फिर धीरे से कहा - 'सुनो, तुम्हारी बात अगर पूरी हो गई हो तो...।' देखिये मज़ा, सामनेवाला गाली देनेवाले से कह रहा है कि 'यदि तुम्हारी बात पूरी हो गई हो तो जरा हमारी बात सुनो ! उठो, चलो, जरा बाहर तक घूम कर आएँ।'

उसने कहा - 'क्या मतलब ?'

'मतलब क्या, थोड़ा घूमकर आते हैं। बाहर बाय की कुआं तक।'

'वहाँ पर क्या है ?'

'वहाँ पर, वहाँ पर अखाड़ा है, अखाड़ा।'

'अखाड़ा ! क्या मतलब ?'

'सुनो, तुम्हारा मन है लड़ने का, वहाँ तुम्हारा जोड़ीदार मिला दूँगा, क्योंकि मैं तो हूँ कमज़ोर।'

अब जो गुस्सा कर रहा था उसका सारा गुस्सा ठंडा हो गया और चेहरे पर मुस्कुराहट आ गयी। बस फिर क्या था, बोले - 'हो गया बाय का कुआं, अपन यहीं बैठें। अरे, चाय तो लाओ। अब चाय पीवें आराम से।' - ये क्या चीज है ? ये है कि सामनेवाले ने ईंधन डाला, चिंगारी भी लगाई पर आप निरन्तर सावधान हैं पानी डालने के लिए। ऐसी तैयारी होनी चाहिए।

एक और दूसरी घटना इन्हीं के जीवन की बताते हैं - एक दिन घर देर से लौटे। जीवनसाथी भूखी बैठी इन्तजार कर रही थीं। तब ये रिवाज़ था कि जब तक परिवारजन खाना न खा लें तब तक माँ लोग (गृहस्वामिनी) खाना नहीं खाती थी। माँ का स्वभाव ही ऐसा होता है, वह सबको खिलाकर फिर खाती है। घर में शेष सबने खा लिया पर अभी जीवनसाथी नहीं आये, घर के मालिक नहीं आये, बैठी हैं वे, दो बज रहे हैं। इतने में आये जनाब, जल्दी-जल्दी हाथ-पाँव धोकर जैसे ही बैठे कि भोजन करने से पहले ही, जो भी मन में था वह सब इनने सुनाना शुरू कर दिया - 'अब चले आ रहे हैं सुबह के, किसी का ध्यान नहीं है। हमने कहाँ से ये गृहस्थी कर ली! हमारे पिताजी को भी क्या सूझी!' हाँ, यहाँ तक चली जाती है बात, दूर तक चली जाती है। ये तो रोजमर्रा की चीजें हैं, किसे नहीं आती ये सब ? सबको आती है। लेकिन ऐसी स्थिति में करें क्या ? इसका सॉल्यूशन (समाधान) क्या है - अपन को तो ये सोचना है।

सामनेवाला बिल्कुल चुप है, सकते में है, समझ तो आ गया कि गलती तो हो गई, बात तो सही है, दो बज चुके हैं। पर अब वातावरण हल्का कैसे करें ? इस समय समझाने-बुझाने से काम नहीं चलेगा। उन्होंने सामने रखी थाली उठाई और जीवनसाथी के सिर पर उसे थोड़ा टिका दिया। वे कहने लगीं - 'अरे-रे ! ये क्या कर रहे हैं ? मज़ाक कर रहे हैं ! इतनी देर से आये और अब भी मज़ाक सूझ रहा है !'

'कुछ नहीं, खाना गर्म कर रहा था, ठण्डा हो गया न खाना।'

'तो क्या गर्म यहाँ होगा ?'

'हाँ, अभी तो तुम्हारा माथा ही ज्यादा गर्म हो रहा है, मैंने सोचा, सिगड़ी की जगह/बजाय यहीं गर्म कर लूँ!'

अब बताइये, ऐसे में कोई गुस्सा कर पाएगा ? नहीं कर पाएगा। ये वातावरण को हल्का बनाने के ढंग हैं। मैं यह नहीं कह रहा कि आप भी ऐसा ही करें। मैं तो यह कह रहा हूँ कि उस समय हम इतना सजग और सावधान रहें कि कैसे भी वातावरण बोझिल न हो पाये। दूसरे की कषाय हमें भी कषाय करने के लिए प्रेरित न कर सके बल्कि हमारी शान्ति, हमारा क्षमाभाव बना रहे और उस क्षमा और शान्ति से दूसरे को भी संदेश मिले, उसकी भी (क्रोध की) इन्टेन्सिटी (तीव्रता/प्रगाढ़ता) कम हो, ड्यूरेशन (अवधि) कम होवे, प्रयास सिर्फ इतना ही है।

छोटे-छोटे उदाहरण सुना रहा हूँ आपको। एक बहन मेरे पास आई। विदिशा की बात है। वह कहने लगी - 'महाराज ! (वे) ऑफिस से लौटकर आने पर रोज दो-चार कड़वी बातें कह देते हैं। हम समझते रहे कि दिन भर के थके-हारे होते हैं, गुस्सा आ जाता है तो कह देते हैं - इसलिए सहन करते रहे। पर अब हमसे सहन नहीं होता रोज-रोज ये। अब हमको भी गुस्सा आ जाता है। बाद में तो बहुत गिल्टी फील (अपराध अनुभव/महसूस) करते हैं हम। पर इसका अभी तक कोई उपाय नहीं मिला। हम खूब प्रवचन भी सुन चुके आपके, खूब किताबें भी पढ़ते हैं, काफी कुछ किया पर हमें अभी तक इसका कोई नुस्खा नहीं मिला। आप थोड़ी कृपा करें, कुछ उपाय बतावें।'

जब उन्होंने कहा कि दो-चार बातें तो मैं सहन कर लेती हूँ, उसके बाद सहन नहीं कर पाती - बस सॉल्यूशन (समाधान) यहीं पर है।

'हाँ, दो-चार बातें तो आसानी से सहन कर लेते हैं। लेकिन ये रोज का झगड़ा है, अब हमें भी गुस्सा आने लगता है तो हम भी एक-आध बात कड़ी कह देते हैं, बस बात और बढ़ जाती है फिर बमुश्किल सम्हलती है। यहाँ तक कि फिर बाद में दोनों जन बैठकर रो भी लेते हैं कि चार बातें तुमने कही, हम ही कुछ सम्हल जाते तो...। ऐसा

एक-दूसरे को बाद में कहते भी हैं।' ऐसा नहीं है कि प्रेम नहीं है, लेकिन वह उस समय कहाँ चला जाता है ?

सबके भीतर अच्छाइयाँ हैं लेकिन वे उस समय कहाँ चली जाती हैं जब बुराई अपना पूरा जोर हमारे ऊपर जमा लेती है ? बस उसी समय तो हमें अपने को जीतना है। मैंने उनसे कहा - ''आप चार बातें तो सहन कर ही लेती हैं, अब ऐसा करना - जब चार-पाँच बातें हो जायें और आपको भी लगने लगे कि अब आगे सहन नहीं होंगी तब बोलना कि 'अब आप शान्त हो जाओ, जो कुछ रह गया कहना वह बाद में कह लेना, अभी तो अन्दर चलते हैं, भोजन करते हैं।' इतना-भर आप कर लेना।''

'महाराज ! ऐसा करना है तो कठिन पर आज करेंगे, देखेंगे, आज क्या होता है ?'

''हाँ, करके देखो, प्रैक्टीकल (प्रयोग) करके देखो, बिगड़ेगा नहीं कुछ।''

और सचमुच, शाम को थका-हारा वह व्यक्ति जैसे ही घर में आया, जरा-जरा-सी, छोटी-छोटी-सी बात पर शुरू हो गईं कड़वी बातें, चार-पाँच बातें हुईं, गुस्सा बढ़ता जा रहा था - पर आज सामनेवाला सावधान था, रोज की तरह गाफिल नहीं था, उसने फौरन कहा- 'सुनो, हाथ-मुँह धोलो, खाना बन गया है, पहले खालो, फिर जितना कहना हो - जो भी कहना हो सब बाद में कह लेना।'

इतना सुनते ही पारा और भी गर्म। 'मुझे समझाती है! किसने कहा ये सब ?'

'कुछ नहीं, आज हम महाराज के पास गये थे। हमने उनसे कहा था, उन्होंने ही यह उपाय बताया था।'

बस इतना सुनना पर्याप्त था, घड़ों पानी पड़ गया मानो उनके ऊपर। शांत हो गये। 'हाँ, बात तो सही ही कही है। क्यों मैं व्यर्थ क्रोध करता हूँ!'

और उस दिन के बाद आज तक सब ठीक है। अभी यहाँ भी आकर गया है वह परिवार।

मुझे इस तरह डॉयलॉग (संवाद) की तरह करने में अच्छा लगता है। मैं प्रवचन की तरह नहीं कर पाता कि 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे।' अपन करके देखें, मैं स्वयं भी करके देखता हूँ। मैं आपसे भी यही कह रहा हूँ कि ऐसी सिचुएशन क्रिएट (परिस्थिति निर्मित) हो जावे तो उस समय तुरन्त बँधे-बँधाये उत्तर नहीं, समाधान खोजें ? ऐसी सिचुएशन आ जाने पर जल्दी से समाधान खोजें - ये दूसरा उपाय है।

मैं चुप रहूँगा

तीसरा उपाय थोड़ा कठिन है। अगर ये सब न बने - सकारात्मक सोच का परिणाम भी नकारात्मक आ रहा हो, तुरन्त कुछ और उपाय भी नहीं सूझ रहा हो, वहाँ एनर्जी (ऊर्जा) डिस्कॅशन (बहस) करके ही शांत होगी, गुस्सा करके ही जी ठंडा होगा, चार बातें कहकर ही मन को शांति मिलने वाली है तब मेरा काम इतना ही है कि मैं चुप रहूँगा। मैं चार बातें नहीं कहूँगा, भीतर-भीतर मन मसोसकर रह जाऊँगा लेकिन बात बिगड़ने नहीं दूँगा क्योंकि चार बातें मैं भी कहूँगा तो बात आगे बढ़ जायेगी, बिगड़ जायेगी, फिर बात को सम्हालने में बहुत दिक्कत होगी। अभी अपने को जरा सम्हाल लूँ, चुप रह जाऊँ तो बाहर की बात अपने-आप सम्हल जायेगी और भीतर की थोड़ी देर बाद सम्हल जायेगी। किसी भी कषाय का तीव्र उदय अड़तालीस मिनट से अधिक नहीं रहता, उसके बाद उसमें कमी आयेगी ही।... फिर मैं अपने को सम्हाल लूँगा। यह क्रोध का फ्लड (आवेग/प्रवाह) है, इस फ्लड (आवेग/प्रवाह) में जरा शान्त रह जाऊँ ! सावधान रहूँ कि कोई सहारा/चीज़ पकड़ में आ जाये तो उसके सहारे अपने को बचा लूँ। कर्मों के तेज प्रवाह में कोई भी प्राणी बच नहीं पाता। ऐसे ही ये मेरे कर्मों का तीव्र प्रवाह है, इसमें जरा-सा मौन धारण कर लूँ - ये उपाय हैं क्रोध से बचने के लिए, ये हम कर सकें! पॉजिटिव थॉट (सकारात्मक सोच) हो गये जिसमें हम अपने को जीत सकते हैं। वातावरण को हल्का करने की तरकीब सीख लें, चुप रहना सीख लें।

एक उपाय और—थोड़ा-सा अपने भीतर प्रेम विकसित करना सीख लें। अपने मन में सबके प्रति थोड़ा-सा प्यार आ जाये क्योंकि प्रेम करनेवाला यदि उसके भीतर प्राणिमात्र से सच्चा प्रेम है तो क्रोध नहीं कर सकता, क्रोध करनेवाला प्रेम नहीं कर सकता।

कोहो पीइं पणासेइ

क्रोध प्रीति को नष्ट करता है सबसे पहले। हमारे अन्दर जो सौहार्द है - सहिष्णुता है, इन सारे गुणों को क्रोध आकर नष्ट कर देता है। सारे गुण थोड़े-से मजबूत हो जावें, इनकी थोड़ी-सी प्राप्ति कर लेवें हम तो ये क्रोध का आक्रमण ज्यादा नहीं हो पायेगा हम पर। यदि आक्रमण हो भी जायेगा तो हम जल्दी से उसे हटा भी सकेंगे। इसके लिए साधना करनी पड़ेगी।

साइकॉलॉजी (मनोविज्ञान) में एक प्रक्रिया है - प्रोजक्शन (संयोजना/प्रक्षेपण) की। हर व्यक्ति के जीवन में एक न एक व्यक्ति/जगह ऐसी होती है जहाँ वह गुस्सा करना

पसन्द नहीं करता। उसके सामने/वहाँ वह अपने को बहुत अच्छा प्रस्तुत करता है, वहाँ गुस्सा करना पसन्द नहीं करता। कोई न कोई स्थान/व्यक्ति अवश्य होगा ऐसा हर व्यक्ति के जीवन में। किसी के लिए ऐसा स्थान भगवान भी हो सकते हैं। हाँ, भगवान के सामने कौन गुस्सा करना पसन्द करेगा ? गुरुजन होंगे, उनके सामने कौन पसन्द करेगा गुस्सा करना ? या कि कोई अपना बहुत प्रियजन होगा उसके सामने हम गुस्से की हालत बिल्कुल पसंद नहीं करेंगे। हम कितना ही गुस्सा कर रहे हों अगर वह सामने आ जायेगा तो हम यहाँ-वहाँ करने लगेंगे - 'कितनी बार कहा तुम्हें, तुम हमें छोड़ दो। क्या करूँ, मुझे सब छेड़ते रहते हैं; ये बच्चे लोग तंग करते रहते हैं, ये घर के लोग भी बस', मतलब हम अपनी चीज को, अपने क्रोध को छिपायेंगे कि मैंने कुछ गलत नहीं किया है। उस एक व्यक्ति की वजह से ऐसा होता है, होता है कि नहीं ऐसा ? अब इसी चीज को हम प्रोजेक्ट (संयोजित) करना सीख लें कि जब किसी पर गुस्सा आ रहा हो तो उसकी जगह पर उस प्रिय व्यक्ति (की इमेज) को खड़ा कर लेवें जिस पर मैं कभी गुस्सा कर ही नहीं सकता। अगर अपन से ये काम हो जावे कि वह व्यक्ति गायब हो जाय जिस पर गुस्सा आ रहा था, उसके स्थान पर वह व्यक्ति याद आ जावे, भगवान का स्मरण आ जावे या गुरुजनों का स्मरण आ जावे या जिनवाणी की किसी लाइन का स्मरण आ जावे। जितना हमारा इस चीज का अभ्यास होगा हम उतनी ही जल्दी उस क्रोध की स्थिति से निकल कर प्रोजेक्ट (संयोजित) कर सकेंगे और अपने गुस्से से बच सकेंगे। ऐसा अभ्यास करना पड़ेगा।

एक साधु जी नाव में यात्रा कर रहे थे। उसी नाव में बहुत सारे युवक भी यात्रा कर रहे थे। वे सब यात्रा के मज़े ले रहे थे। मज़ा लेते-लेते साधुजी से भी मज़े लेने का मन हो गया उनका। वे साधुजी को तंग करने लगे - 'बाबाजी ! आपको तो अच्छा बढ़िया खाने-पीने को मिलता होगा, आपके तो ठाठ होंगे !' इस तरह खूब तंग करते रहे। सामनेवाला (साधुजी) चुप था। वे तंग करते-करते गाली-गलौच पर आ गये। यहाँ तक कि एक युवक ने अपना जूता साधुजी के पैर पर चढ़ाने की कोशिश की। इतने में नाव डगमगाई और एक आकाशवाणी हुई कि - 'बाबाजी, अगर आप चाहें तो हम नाव पलट दें। सब डूब जायेंगे, लेकिन आप बच जायेंगे, आपको बचा लेंगे।' बाबाजी के मन में बड़ी शांति थी या कि अभ्यास था उनका; अभ्यास ही कहना चाहिए। साधुता यही है कि विपरीत परिस्थिति में, विषमताओं के बीच भी मेरी समता, मेरी अपनी क्षमा न गड़बड़ाए। ऐसा है तब तो साधुता है, नहीं तो साधु का वेशभर है - ये ध्यान रखना। यह मैं अपने लिए भी कह रहा हूँ। मैं अपने को भी सावधान कर रहा हूँ, अगर मैं अपने

को साधु मानता हूँ तो - साधु मनवाता हूँ तो। बहुत स्पष्ट कह रहा हूँ मैं। हाँ, ऐसे अपने भीतर देखना चाहिए अपन को। वे साधुजी सचमुच साधु थे, शांत रहे। ऐसी आकाशवाणी सुनकर मालूम है हम और आप होते तो क्या कहते ? कहते - 'पलट दो।' उन्होंने कहा - 'इस तरह की आकाशवाणी करनेवाला देवता कैसे हो सकता है ? अगर आप सचमुच पलटना चाहते हैं तो नाव मत पलटो, इन युवाओं की बुद्धि पलट दो।' ऐसा शांत भाव ! ऐसा क्षमाभाव ! क्या ऐसा ही हमारा मन हो सकता है उस समय जबकि कोई हमारे सामने कषाय कर रहा हो और हमें भी उद्वेलित करता हो कषाय करने के लिए ? तब क्या उस समय हमारे मन में आता है कि काश ! इस व्यक्ति का क्रोध शांत हो जाता ! इसकी भावनाएँ निर्मल हो जातीं, इसका मन पवित्र हो जाता, क्या हम ऐसा भाव नहीं कर सकते ? कर सकते हैं, अपने भाव भी कर सकते हैं ऐसे और दूसरे के भाव भी कर सकते हैं कि कितनी जल्दी क्रोध से बचकर मैं मेरे अपने मन को शांत कर लूँ या सामनेवाला क्रोध में घिर जाय तो भावना भाऊँ कि जल्दी से इसका क्रोध शांत हो जाय, इसका अच्छा हो जाय। अगर ये ऐसी चीज हम अपने जीवन में लाएँ तो हम भी अपने जीवन में क्षमाभाव बहुत आसानी से धारण कर सकते हैं, क्रोध पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। इसी भावना के साथ कि आज का दिन हमारे जीवन के शेष दिनों के लिए गति देने में सहायक बनेगा और हम सब अपने स्वभाव को प्राप्त कर पायेंगे।

गुरुवर आचार्य विद्यासागर जी महाराज की जय।

❑❑❑

शिक़ायत

काग़ज की क़िश्ती
कुछ देर
लहरों में खेली
फिर डूब गई
इसे शिक़ायत है कि
किनारों ने इसे धोखा दिया।

- मुनिश्री क्षमासागरजी

उत्तम मार्दव

- ❑ **दूसरों के गुणों के सम्मान में अगर हम आह्लाद महसूस करते हैं तो मानियेगा हमारे भीतर मृदुता-कोमलता आने शुरू हो गये हैं।**
- ❑ **अपने को गुणवान और श्रेष्ठ बना लो तो सम्मान अपने आप हो गया!**

हम सभी लोग अपने जीवन को अच्छा बनाने के अनुष्ठान में निरन्तर शामिल होकर विचार कर रहे हैं कि जो जीवन शेष रहा है उसे हम किस तरह बेहतर ढंग से जीयें ! हमारे जीवन में कुछ ऐसी बातें शामिल हो गई हैं जिनको हम खुद भी नहीं चाहते पर हमारे पुराने अज्ञान की वजह से संस्कारों में वे चीजें इतनी जज़्ब हो गई (घुल-मिल गई हैं) कि हम लोग चाहकर भी उनको अलग नहीं कर पाते हैं। कुछ नहीं चाहने योग्य चीजें, जिन्हें हम दूसरों में भी नहीं चाहते और अपने आप में भी नहीं चाहते, उन्हें अपन देखें। सभी जानते हैं कि कोई भी व्यक्ति गुस्सा करते हुए अच्छा नहीं लगता, कोई भी व्यक्ति अहंकार करते हुए अच्छा नहीं लगता, कोई भी व्यक्ति छल-कपट करते हुए अच्छा नहीं लगता और न ही लोभ करते हुए अच्छा लगता है। इस तरह यदि हम गौर से देखें तो ये सब चीजें न हमें दूसरों में अच्छी लगती हैं न अपने भीतर अच्छी लगती हैं। इसलिए हमने ये सोचा है कि हमें दूसरों के भीतर भी जब भी ये चीजें दिखाई पड़ेंगी तो हम उन्हें हटाने का प्रयत्न करेंगे और अपने भीतर भी जब-जब ये चीजें आ जायेंगी तो हम इनको अच्छा नहीं मानेंगे और धीरे-धीरे इनको हटाने का प्रयास करेंगे।

कल हमने अपने क्रोध को हटाने और अपने भीतर क्षमाभाव को हमेशा बनाये रखने के लिए जो बहुत एप्लीकेबल (उपयुक्त) चीजें हो सकती हैं - वे समझी थीं। हम देखें कि जितने भी वृक्ष हैं वे सब भले ही अज्ञानी हैं लेकिन फिर भी वे सब क्षमा धारण करते हैं, भले ही उनकी क्षमा मजबूरी की क्षमा क्यों न हो ! हम प्रतिदिन उनको कितना ही ऐंठते हैं - मसलते हैं, उन पर कितना ही मल-मूत्र विसर्जित करते हैं तब भी उनकी कितनी पेशन्स (सहनशक्ति) है कि वो सब सहन कर लेते हैं ! कभी-कभी हम बच्चों को

भी कितनी तकलीफ पहुँचा देते हैं ! उनके साथ मारपीट भी कर लेते हैं इसके बावजूद भी वे चुप रह जाते हैं। हालांकि ये उनकी मजबूरी है, पर क्या हम उनसे कोई संदेश नहीं ले सकते ? लेना चाहें तो यही संदेश ले सकते हैं कि हम जितनी सहनशीलता, सहिष्णुता अपने भीतर बढ़ायेंगे उतनी ही हमारे अन्दर समता बढ़ेगी। समतावान व्यक्ति के ही क्षमाभाव प्रकट होता है। कल हमने विचार किया था कि अपनी सहनशीलता, सहिष्णुता कैसे बढ़ायें ? हमारे जीवन में जब ऐसे कमजोर मौके आ जायें कि हम क्रोध में घिर जायें तब हम कैसे अपने को सम्हालें—इस पर विचार किया। आज हम थोड़ा-सा आगे बढ़ें - 'मृदोर्भावो मार्दवं' - हमारे भीतर जो मृदुता है वही मार्दव धर्म है। जिन क्षणों में हम अपने भीतर कोमलता का अनुभव करते हैं, मृदुता का अनुभव करते हैं वे क्षण ही हमारे मार्दव धर्म के हैं।

अस्तित्व का अहंकार

'अहं करोति इति अहंकार:।' 'मैं करता हूँ' यह जो भाव है यही अहंकार का भाव है। या कि 'मैं कुछ हूँ' इस तरह का भाव अहंकार है। 'मैं हूँ' ये तो अपनी ऑग्जिस्टेंस (अस्तित्व) का भाव है, ये तो हर एक को अनुभव होती है लेकिन 'मैं कुछ हूँ' 'आई एम सम थिंग' - ये जो भाव हमें घेर लेता है इसी को कहते हैं - 'अहंकार'।

हम दो तरह से जीवन जी सकते हैं, एक तो अपने आप को इस संसार का कर्ता-धर्ता, सब-कुछ मानकर जीना। ऐसे भी लोग हैं जो इस तरह का जीवन जीते हैं। वे ऐसा फील (अनुभव) करते हैं कि हम ही अपने परिवार को चलाते हैं, हम ही अपने समाज को चला रहे हैं, देश को चला रहे हैं। हम लोग भी कई बार ऐसा फील (अनुभव) करने लग जाते हैं। यहाँ तक कि कभी-कभी ऐसा लगने लगता है कि सारी पृथ्वी, तीनों लोक का आधिपत्य-स्वामित्व मिल गया; किसी ने नहीं भी दिया तो भी ऐसी फीलिंग (भावना) आ जाती है। ये जो फीलिंग (भावना) है ये ही अहंकार है। इसके चलते हमारी अपनी मृदुता-कोमलता चली जाती है, हम कठोर हो जाते हैं। जैसे अभी थोड़ी देर पहले मैं थोड़ा-सा कठोर हो गया था। नहीं होना चाहिए था। लेकिन ऐसा मन में भाव आ गया। इसे कमजोरी माना जायेगा। मेरे भीतर हो या किसी और के भीतर, कमजोरी तो कमजोरी है। इसी बात को दूसरे ढंग से भी कहा जा सकता था। अभी मैं सोचता रहा कि इसको ऐसे न कहकर दूसरे ढंग से कहना था कि हम अभी तक जैसी पूजा करते आ रहे हैं आज वैसी न करके थोड़ा हटके करते हैं। देखें, इसमें मज़ा आयेगा तो ऐसी करेंगे नहीं तो जैसी कर रहे थे वैसी ही करेंगे - ऐसा भी कह सकते थे। ये कमी मालूम हुई, अब इस चीज

को अपन को सुधारना है। ये सामने के ही उदाहरण हैं। अपने को रोज एक न एक चीज मिल जाती है, अपन सुधार सकते हैं उसे वहीं के वहीं। सम्हाल सकते हैं अपने आपको कि अब आगे कोई अवसर आयेगा तो हम नहीं चूकेंगे। अपने आपको ऐसा ऑटो सजेशन (आत्म सुझाव), ऐसी सलाह भी दे सकते हैं। ऐसे ही कदम-कदम पर अगर हम थोड़े-से सावधान हो जावें अपनी भावनाओं के प्रति, अपने विचारों के प्रति तो हम अपने जीवन के साथ-साथ अपने पूरे परिवेश को भी सम्हाल सकते हैं। हमारी भीतर की जो मृदुता या कोमलता है वह हमारा अपना वास्तविक स्वरूप है। हम 'मैं कर्ता हूँ' या 'मैं कुछ हूँ' ऐसे भाव से भर जाते हैं, या ऐसी जो कठोरता अपने मन में आ जाती है वह हमें भी कष्टकारी होती है और दूसरों को भी कष्टकारी होती है - ऐसी बात अगर हमारे मन में निरन्तर बनी रहे तो ये मार्दव धर्म की बात करना सार्थक हो जाये।

अहंकार और विनय

क्या होता है अहंकार के आने से ? और क्या होता है हमारे भीतर मृदुता और कोमलता आने से ? इन दोनों चीजों को (स्थितियों को) हम जरा-सा समझ लें। जब हम किसी दूसरे से सम्मान की आकांक्षा रखते हैं, अपनी योग्यता नहीं होने पर भी, तब एक छटपटाहट हमारे भीतर होती है। सम्मान नहीं मिलने पर भी और सम्मान मिलने पर भी; दोनों ही स्थितियों में छटपटाहट होती है। नहीं मिलने पर तो छटपटाहट होती ही है पर अगर मिल जाता है तो मिलने पर भी ऐसा लगता है जैसे कम मिला। कभी भी तृप्ति नहीं होती। लिखा तो यह है कि 'मानेन तृप्तिमति भोगेन न' - व्यक्ति को भोगों से उतनी तृप्ति नहीं मिलती जितनी मान-सम्मान से मिलती है। लेकिन आचार्य भगवन्त इससे भी आगे कहते हैं कि **तृप्ति मान-सम्मान से भी नहीं मिलती बल्कि मान-सम्मान मिलने के साथ हमारे भीतर जो कृतज्ञता और विनय आती है उससे तृप्ति मिलती है**। इसलिए जहाँ लिखा है 'मानेन तृप्तिमति भोगेन न' वहाँ उसका अर्थ है कि जब हम दूसरे से सम्मान पाते हैं तो हमारे भीतर क्या आना चाहिए? हमारे भीतर और अधिक विनय आनी चाहिए, और अधिक नम्रता आनी चाहिए, झुकने का मन हो जाना चाहिए, तब तो वह सम्मान भी बुरा नहीं है। सम्मान मिलना बुरा नहीं है, सम्मान की आकाँक्षा होना बुरा है। मैं अपनी योग्यता बढ़ाऊँ और अपनी योग्यता से विशिष्टता प्राप्त करूँ - यह बुरी बात नहीं है लेकिन मैं अपने को चार लोगों के बीच में विशिष्ट मानूँ - ये बात अच्छी नहीं है। हाँ, यह फर्क अपन को समझना है। विशिष्ट होना बुरा नहीं है किन्तु विशिष्टता की आकाँक्षा या विशिष्ट कहलाने का जो भाव है वह हमारे अन्दर अहंकार

उत्पन्न करता है।

अहंकार की कसौटी क्या है ? कैसे पहचानेंगे कि अब हमारे भीतर अहंकार आ गया है ? जब भी दूसरे का तिरस्कार करने का भाव, दूसरों के गुणों को सहन न करने का भाव, दूसरे से ईर्ष्या का भाव अपने भीतर दिखने लगे तो समझना कि अहंकार है। ये सारी वैरायटी (प्रकार/प्रभेद) अहंकार की है, मान कषाय की है - इतनाभर अपने को ध्यान में रखना है। होता यह है कि हम जरा-सी चीज में अपना तिरस्कार महसूस करने लगते हैं या जैसे ही दूसरों के गुण बढ़ते देखते हैं तो अपने को हीन समझने लगते हैं। ये जो हीनता की भावना हमारे भीतर आती है ये ही (हमारे भीतर) अहंकार को जन्म देती है। बड़ा सायकॉलॉजिकल (मनोवैज्ञानिक) है यह। लगता ऐसा है कि सुपीरियॉरिटी कॉम्पलेक्स (श्रेष्ठता की भावना/दंभ) से मान आता है, नहीं इनफीरियॉरिटी कॉम्पलेक्स (हीन भावना) की वजह से भी ईगो डवलप (अहं वृद्धि) हो जाता है। जो व्यक्ति अपने आप में सक्षम है, जो व्यक्ति योग्य है उसे अपनी योग्यता से अतिरिक्त सम्मान की आकाँक्षा ही नहीं है, उसकी योग्यता ही उसका सम्मान है। लेकिन, जिस व्यक्ति में योग्यता नहीं है उसे उपाय करना पड़ता है कि उसे सम्मान मिले और यही कहलाता है अहंकार।

हम देखें कि हमने क्या सीखा ? या हम अपने भीतर की योग्यता को बढ़ाते हुए देखें तो अपने आपमें स्वयं विशिष्ट होना शुरू हो जायें। तब बाहर से उस योग्यता का सम्मान पाने की या दूसरे के तिरस्कार करने की भावना ही उत्पन्न नहीं होगी, दूसरों के गुणों को हम आसानी से सहन कर पायेंगे।

हम अपने आपको इस संसार का कर्ता मानकर, स्वामी मानकर जीना चाहते हैं तो वैसे जी सकते हैं या कि इस सृष्टि का एक अंग मैं भी हूँ - ऐसी भावना से भी जी सकते हैं। समुद्र में पड़ी हुई एक बूँद की तरह इसमें मिक्सअप (एकमेक) होकर जी सकते हैं या समुद्र में एक आईलैण्ड (द्वीप) की तरह अपनी ऑग्जिस्टेंस (सत्ता) कायम रखने के लिए, किसी से न मिलते हुए अलग-थलग भी जी सकते हैं। यह हम पर निर्भर करता है कि हम दोनों में से कौनसा रास्ता चुनना चाहते हैं ? हम अपनी योग्यता बढ़ाना और दूसरों के अन्दर बढ़ती हुई योग्यता से प्रसन्न होना पसन्द करेंगे या कि हम अपनी योग्यता को बढ़ाये बिना दूसरों से योग्य कहलाने का भाव रखेंगे ? या जब भी दूसरों के भीतर गुण देखेंगे तो अपने भीतर कसमसाहट महसूस करेंगे ? ये हमारा चुनाव है कि हमें इन दोनों में से क्या करना है ? आनन्द तो पहलेवाले पक्ष में ही है। हम निरन्तर अपनी योग्यता बढ़ाते चले जायें और सम्मान पाते चले जायें। योग्यता ही सबसे बड़ा सम्मान है

और जैसे ही दूसरों के अन्दर भी उस योग्यता को देखें, गुणों को देखें तो हर्षित हो जायें। हम लोगों के साथ मुश्किल यह है कि कोई हमारा सम्मान करे या न करे, हमें इसकी ज्यादा चिन्ता नहीं है; हमें चिन्ता यह हो जाती है कि हमारे सामने दूसरे का सम्मान न हो जाये! यह बहुत बड़ी मुश्किल है अपने भीतर। देखा है हमने कई बार इस चीज को, अपन सब देखते हैं। चार व्यक्ति हैं, उनमें से किसी एक व्यक्ति को प्रायोरिटी (प्राथमिकता) मिल जाये, सम्मान मिल जाये तो क्या हम उस समय उसके सम्मान में प्रसन्नता महसूस कर पाते हैं ? क्या उसके सम्मान में हम गद्‌गद हो जाते हैं ? नहीं हो पाते हैं। हमें उस समय लगने लगता है कि इस सबकी क्या जरूरत थी ? और अगर उस जगह अपने को खड़ा करके देखें तो इस सबकी जरूरत थी। हाँ, अगर उसकी जगह पर हम हों तो सम्मान मिलने की जरूरत है -

''दूसरे का हो रहा सम्मान,
हमें लगता है जैसे -
हो रहा हमारा अपमान।''

दूसरे के सम्मान में अगर अपना अपमान महसूस करने का भाव है तो मान लो कि अहंकार है। दूसरों के सम्मान में, गुणों के सम्मान में अगर हम आह्लाद महसूस करते हैं तो मानियेगा अब हमारे भीतर मृदुता-कोमलता जो हमारे स्वाभाविक धर्म हैं आने शुरू हो गये हैं। यह बहुत प्रैक्टीकल (व्यावहारिक/प्रायोगिक) चीज है, यह अपन ठीक करने की कोशिश करें। जब-जब भी किसी के गुण देखें तो हमारे भीतर हर्ष होना शुरू होवे। यदि किसी के गुणों की प्रशंसा सुनें तो हमें हर्ष हो, इसके बाद ही हम अपने और दूसरों के गुण बढ़ा पायेंगे। **अपने गुण तभी बढ़ेंगे जब हम दूसरे को सहन कर सकेंगे, उसके गुणों की प्रशंसा में शामिल हो सकेंगे।** हमारे अन्दर इतनी कोमलता-मृदुता आनी चाहिए।

हम लोगों ने अपने जीवन को इतना कॉम्प्लीकेटेड (उलझा हुआ), इतना जटिल और इतना कठोर बना दिया है कि हमें ये चीजें महसूस ही नहीं होतीं। इतना ही नहीं हम अपने इस अहं को ऊँचा उठाने के लिए, बढ़ाने के लिए बहुत सारी चीजों पर डिपैन्ड (निर्भर/आश्रित) हो गये हैं। 'मेरेपन' का जो भाव है वह भी इस 'मैं' की वजह से ही आता है। 'आई एम' - 'मैं हूँ' यह कहने में कोई दिक्कत नहीं है, 'मैं हूँ' - यह तो ठीक है पर 'आई एम सम थिंग', 'मैं कुछ हूँ' यह जो भाव है यह कैसे डवलप (विकसित) होता है ? 'मैं कुछ हूँ' - तो मेरे पास बहुत कुछ होना चाहिए, और फिर धीरे-धीरे करके पूरे संसार का प्रपंच अपना हो जाता है। जहाँ हमने यह मान लिया कि 'मैं कुछ हूँ' वहाँ

सारा प्रपंच करना शुरू हो गया।

मैं अपने को एक साहब मान लूँ कि 'मैं एक साहब हूँ', ठीक है। अब साहब हूँ तो साहब के जितने तौर-तरीके होते हैं वे सब मुझमें होने चाहिए। हाँ, कैसे एक साहब को रहना चाहिए ? अपने नौकर को हिक़ारत की नजर से देखना चाहिए - ये साहब का लक्षण है, यह मुझमें भी होना चाहिए। मैं साहब हूँ तो मेरे मातहत लोगों को मेरे हिसाब से चलना चाहिए। अरे, कितनी मुश्किलें अपने जीवन में आ जाती हैं साहब बनने पर! मेरे घर में ये-ये चीजें, इतनी-इतनी चीजें तो हैं ही नहीं, तो लोग कहेंगे - अरे ! उन साहब के घर गये थे तो उनके यहाँ तो गीज़र ही नहीं है, उनके यहाँ तो हीटर ही नहीं है, टेलीविजन भी कलर्ड (रंगीन) नहीं है - ब्लैक एण्ड व्हाइट ही है, अब मेरा 'मैं' इन चीजों से बड़ा हो जाता है, हम सब ऐसी ही कोशिशों में लगे हैं। अगर हम चीजों में अपनी योग्यता मानते हैं तो मानो कि अभी हमारे अन्दर मृदुता और कोमलता धर्म नहीं आया है। अभी हमारे अन्दर अहंकार है। मेरे 'मैं' को संवारने के लिए मैं इन चीजों पर डिपैन्ड (आश्रित) होता हूँ और चीजों से अपने अहंकार का पोषण करता हूँ तो मालूम होगा कि अभी हमारे अन्दर मृदुता नहीं आई।

मान बनाम प्रदर्शन

हमारे पास चीजें होना कोई बुरी बात नहीं है, उनका उपयोग करना बुरी चीज नहीं है लेकिन चीजों के माध्यम से अपने आपको बड़ा मानना, अपना बड़प्पन मानना - यह अपनी एक कमजोरी है। अपन ऐसा करते हैं कि नहीं करते ? करते हैं। जब नई गाड़ी खरीदकर लाते हैं तो गाड़ी का सुख तब मिलता है जब लोग देखें, नहीं तो सुख नहीं मिलता। कोई गाड़ी नहीं देखे तो गाड़ी चलाने का जो आनन्द आना चाहिए वह नहीं आता। बस, कोई गाड़ी देख ले, तब आता है आनन्द। और कोई पूछ लेवे कि यह नया मॉडल कब लिया आपने ? तब तो क्या कहना ! तब तो बस यह लगता है कि सार्थक हो गया गाड़ी लेना। नहीं तो ली तो अपने काम के लिए थी कि इधर-उधर चले जायेंगे, आसानी हो जायेगी। इसलिए थोड़े ली थी कि चार लोगों के बीच जाकर दिखाएँ कि मेरे पास ये है। 'मान' का मज़ा यही है कि जो चीज प्राप्त होती है उसमें सुख नहीं मिलता, सुख तो उसके प्रदर्शन में मिलता है कि देखो ! मेरे पास है इतना, तुम्हारे पास तो है ही नहीं। सारा मज़ा दूसरों के द्वारा देखने में है। हमें यह चीज अपने भीतर झाँककर देखनी पड़ेगी। जब भी अपन कोई चीज हासिल करें तब अपने जीवन में उस चीज का आनन्द लें, इसमें आनन्द न मानें कि वह चीज दूसरे लोग देखें। मेरे गुण जब तक दूसरे के द्वारा

सम्मानित न होंगे तब तक मानो वे मेरे गुण ही नहीं है ? मेरे गुण दूसरे से सम्मान पाने के मोहताज हो गये ? तब तो फिर मेरे अन्दर गुणवत्ता बढ़ ही नहीं पायेगी, न ही मैं दूसरे के भीतर कोई गुण देखकर उससे कोई प्रेरणा ले पाऊँगा, न अपने जीवन में कोई अच्छा मार्ग उनके द्वारा ले पाऊँगा। ये दोनों चीजें इन दिनों हमारे भीतर तेजी से बढ़ रही हैं। आचार्य भगवन्तों ने लिखा है - लोभ कषाय हो तो देव पर्याय प्राप्त होती है, मायाचारी को तिर्यंच पर्याय होती है, क्रोध कषाय की तीव्रता के साथ नारकी पैदा होते हैं और मान कषाय के साथ मनुष्य पैदा होते हैं।

अगर घर आते ही साथ छोटे-से बेटे की तरफ ध्यान न दें तो वह चीख-चिल्लाकर सारे घर को सिर उठा लेता है, 'क्या समझते हो मुझे!' दिखता है छोटा-सा पर सबको, सारे घर को सिर पर उठा सकता है वह चीख-चिल्लाकर, यह भी मानकषाय का ही एक रूप है। लगता है वह अपनी किसी वज़ह से चीख रहा है, नहीं वह तो मान कषाय के कारण चीख रहा है क्योंकि हम उसे इग्नोर (उपेक्षित) करते हैं। छोटे-से बच्चे को इग्नोर (उपेक्षित) कर दीजिये, उसकी उपेक्षा कर दीजिये उसका इगो-हर्ट (अहं-क्षत) होता है। यह नहीं समझना चाहिए कि वह अभी छोटा है, समझता नहीं है। सब समझता है वह, बहुत पुराना आसामी है वह, संसार देखा है उसने, (अनेक जन्मों/पर्यायों में) बहुत घूम-घाम के आ रहा है वह, दिखता छोटा-सा है।

मान और सम्मान—अन्तर

हम सब इसी तरह जन्म लेते हैं और हमारे अपने मान कषाय के लिए निरन्तर प्रयत्न करते हैं। कोई बात नहीं, यह बुरी चीज नहीं है। कौन नहीं चाहता सम्मान ? लेकिन भैया ! काम इतना-सा ही करना है कि सम्मान जिस चीज में मिलता है वह चीज मेरे पास हो तब सम्मान हो। सम्मान तो गुणवत्ता और श्रेष्ठता का होता है। अपने को गुणवान और श्रेष्ठ बना लो तो सम्मान हो गया भैया, अपने आप ही हो गया। कोई करे या न करे सम्मान किसी का, बस इतनी-सी बात ध्यान में रह जाये। तो एक लाइफ स्टाइल (जीवन-शैली) यह हो सकती है कि हम अपनी योग्यता और श्रेष्ठता बढ़ाएँ; हम असाधारण कहलाने की चेष्टा न करें बल्कि साधारण रहकर उस असाधारणता को हासिल करें। जो जितना साधारण है मानिये वह उतना ही असाधारण है और जो जितना असाधारण बनने की कोशिश करता है मालूम है वह उतना ही साधारण होता है। अपने रोजमर्रा के जीवन में जितना कोई मान चाहता है मानिये उसका उतना ही अपमान होता है, निरन्तर। जितनी हम संसार से अपेक्षा रखते हैं मानियेगा उतनी ही उपेक्षा का सामना

करना पड़ता है। ये जीवन के अनुभव हैं। अपन रोज अपने बच्चों से सम्मान की आकाँक्षा रखते हैं तो निरन्तर अपमान मिलता है। हम बच्चों से अपेक्षा रखते हैं, वे हमारी उपेक्षा करते हैं। ऐसी स्थिति में हमें क्या करना चाहिए? आज मृदुता का दिन है, कोमलता का दिन है। आज हम इस बात पर विचार करें।

ये जो चीजें हमारे भीतर हैं वे हमारे अहंभाव का पोषण करती हैं और हमारी रिसेप्टीविटी (ग्रहणशीलता) को कम करती हैं। विकार हमारी ग्राहकता को नष्ट करते हैं। हममें योग्यता नहीं होने पर भी योग्यता का भ्रम पैदा करते हैं। यह अहंकार का काम है। जब योग्यता नहीं होने पर भी, श्रेष्ठता नहीं होने पर भी चार लोगों से सम्मान मिलने लगता है तब योग्यता और श्रेष्ठता का भ्रम पैदा हो जाता है। सम्मान मिलना बहुत अच्छी चीज है लेकिन बहुत खतरनाक भी है। किसी को अगर नीचे गिराना है, पतित करना है तो सबसे आसान/बढ़िया तरीका है कि बिना योग्यता के उसकी जय-जयकार करो, माला पहनाओ और प्रशंसा ही प्रशंसा करो, बस, फूलकर मस्त हो जायेगा वह। जैसे- गुब्बारे में ज्यादा हवा भर देंगे तो वह फट जायेगा। बड़ा मुश्किल है इसको समझना। अहंकार का पोषण हम स्वयं अपना भी करते हैं और दूसरे का भी करते हैं। इससे हमारी रिसेप्टीविटी (ग्रहणशीलता) कम होती जाती है, हमारी ग्राहकता कम होती जाती है। हम धीरे-धीरे अग्रेसिव (आक्रमणशील) होते चले जाते हैं। जितना हम मान-सम्मान पाने की आकाँक्षा रखते हैं उतने ही हम आक्रामक होते जाते हैं और जितने हम विनम्र होते हैं उतने ही ग्राहक या रिसेप्टिव (ग्रहणशील) होते चले जाते हैं अन्दर से।

ईर्ष्या—गुणों की अवहेलना

यह बात उदाहरण से समझ लीजिए तो ज्यादा आसानी रहेगी - आपने मुझे दो बातें कहीं। दोनों बातें अच्छी थीं। लेकिन मैंने सोचा - अरे वाह, इनकी दोनों बातें अच्छी हो जायेंगी तो मेरी तो इन्सैल्ट (अपमान) हो जायेगी, इसलिए हमने आपकी दोनों बातें रिजेक्ट (अस्वीकार) कर दीं। अब क्या हुआ ? इससे मेरे पास जो दो अच्छी बातें आ सकती थीं वे नहीं आईं। अगर मैं थोड़ा विनम्र होकर उन दोनों बातों को स्वीकार कर लेता और कहता कि 'मेरे पास भी दो अच्छी बातें हैं वे आप ले लीजियेगा' तो एक डॉयलॉग क्रिएट (संवाद निर्मित) होता। दो बातें दूसरे से मिलती, दो बातें अपने पास पहले से थीं तो कुल चार अच्छी बातें हो जातीं। इसी तरह दूसरे के पास भी दो बातें थीं, उसे भी दो और मिल जातीं तो उसके पास भी चार अच्छी बातें हो जातीं। इस तरह

हम एक-दूसरे के गुणों को बढ़ाने में निमित्त बन सकते थे अगर थोड़े-से विनयवान होते तो। हम अगर थोड़े कठोर हो जाते हैं तो हमारी अपनी रिसेप्टीविटी (ग्रहणशीलता) भी खत्म होती है और दूसरे से जो प्राप्त होना था उससे भी हम वंचित हो जाते हैं।

हम इस संसार में कैसे जीते हैं इसका एक छोटा-सा उदाहरण है — एक साधुजी को एक राजा ने अपने यहाँ बुलाया। साधु को राजा बुलायेगा तो उसका कोई न कोई इन्टेंशन (प्रयोजन) तो होगा ही। राजा चाहता था कि वे साधुजी बिल्कुल फक्कड़ हैं, उनके पास कुछ भी नहीं है, इसलिए जरा एक-आध बार मेरे महल में तो आकर देखें कि मैं कैसे जीता हूँ! उन्होंने तो कभी ऐसा देखा तक न होगा! आता है कई बार अपने भी मन में ऐसा भाव !नहीं आता? अपने घर में दूसरों को बुलाने के पीछे कौन-सा भाव रहता है ? कभी-कभी, हमेशा नहीं। अपनी बहुत-सारी चीजें जब हम दूसरों को दिखाते हैं तब कैसा भाव रहता है ? कभी-कभी ऐसा भाव नहीं आ जाता कि दूसरों को ये चीजें दिखाकर मैं प्रशंसा हासिल करूँ ! आ जाता है ऐसा भाव। और इतना ही नहीं कई बार जब अपन को प्रशंसा नहीं मिलती है तो अपन व्यथित होकर कैसे-कैसे उपाय करते हैं? बहुत प्रकार के उपाय करते हैं - इसके बारे में दूसरा एक और उदाहरण ध्यान में आ गया, ये पहलेवाला (साधुजी - राजावाला) गायब हो गया। अब दूसरेवाला पहले सुना देता हूँ, वह जो साधुजीवाला था उसे यहीं रहने देता हूँ, उसे बाद में पूरा कर दूँगा।

एक अम्माजी थीं। उन्होंने पान रखने का एक बढ़िया-सा मतला (पानदान) बनवाया, लकड़ी और बाँस से बनता है जो बहुत बढ़िया, चाँदी का नहीं। उस पर लखनवी नज़ाकत की बहुत बढ़िया नक्काशी थी। अम्माजी पान खाने की शौकीन, उन्होंने उसमें से पान निकालकर खाया लेकिन किसी ने उस पर (मतले पर) ध्यान ही नहीं दिया। अब, ये तो बड़ी मुश्किल हो गई! अपने पास इतना सुन्दर मतला है और किसी ने उस पर ध्यान ही नहीं दिया! किसी ने देखा तक नहीं, प्रशंसा तक नहीं की! अब, दो-तीन दिन तो उन्होंने बर्दाश्त किया। पर कोई देख तक नहीं रहा। फिर एक दिन हल्ला मचा। उस बूढ़ी अम्मा ने बाहर आकर हल्ला मचाया - 'आग लग गई - आग लग गई, बचाओ-बचाओ।' सब लोग भागे-भागे उनके घर आये। देखा - थोड़े से कपड़ों में आग लगी थी, थोड़े-से कागज जल गये थे। पर अब आग बढ़ती ही जा रही थी। आनन-फानन में पानी लाया गया। तभी बाजू से एक और अम्माजी आईं और उन पानवाली अम्माजी के पास जाकर खड़ी हो गईं। अब उन पानवाली अम्माजी ने अपना पान का मतला निकाला और उसमें से एक पान निकालकर खाया। उधर लोग आग बुझा रहे हैं और यहाँ अम्मा पान खा रही हैं ! इसी से मालूम हो गया कि वे क्या चाहती

हैं ? यह उन दूसरी अम्माजी ने देख लिया। वे बोलीं - 'अरे, आपका मतला तो बड़ा सुन्दर है! कब लिया ? हमने तो आज देखा!'

अम्माजी बोलीं - 'ये अगर पहले पूछ लिया होता तो ये आग काहे को लगती!'

कितना मुश्किल होता है अपने भीतर योग्यता नहीं होने पर सम्मान पाने की आकाँक्षा होना! एक बार यह आकाँक्षा जाग जाये तो सम्मान मिलने पर भी तृप्ति नहीं होती और न मिलने पर अत्यन्त संक्लेश होता है। ये ही तासीर है इसकी। हम एनॅलाइज (विश्लेषण) करें - हमारे भीतर तो ऐसा नहीं होता! अगर ऐसा होता है तो उसे सम्हालें।

हाँ तो उन साधुजी को बुलाया राजा ने। उनका उद्देश्य भी यही था कि उन्हें दिखाऊँगा, मेरा महल कितना बड़ा है! मैंने अॅम्यूजमैंट (मनोरंजन) के कितने साधन अपना रखे हैं! बाबाजी, आप कितने दु:ख में रहते होंगे! आपके पास कुछ नहीं है ! और राजाजी उन साधुजी को अपने महल में ले गये। उनके महल के पास ही समुद्र था। राजा साधुजी को महल की छत पर ले गये और बोले - 'बाबाजी ! देखते हैं, समुद्र में जो जहाज हैं वे सब मेरे हैं। और उन जहाजों में जानते हैं क्या है ? सबमें हीरे-जवाहरात, बेशकीमती!' बाबाजी ने गौर से देखा। राजा खुश, फिर बोला - 'देखो, ये इतने सारे जहाज हैं, सब अपने हैं।' बाबाजी ने बहुत गौर से देखा।

राजा ने पूछा - 'क्या देख रहे हैं आप ?'

बाबाजी बोले - 'मुझे तो दो ही जहाज दिखाई दे रहे हैं।'

राजा ने चौंकते हुए कहा - 'क्या मतलब ? क्या आपकी आँखें खराब हो गई हैं? इलाज करवाऊँ उनका!'

बाबाजी बोले - 'मतलब ये कि जहाज के दो ही प्रकार हैं - एक नेम (नाम) और दूसरा फेम (प्रसिद्धि)। मेरा नाम हो, मेरी प्रसिद्धि हो, बस ये सब इसी के लिए तो हैं!'

चाहे कितने ही जहाज हों, चाहे कितना ही बड़ा महल हो - ये इन्हीं दो चीजों के लिए तो हैं कि मुझे ज्यादा से ज्यादा लोग जानें और ज्यादा से ज्यादा लोग मानें। बस ये दो ही जहाज हैं। चौबीस घंटे घूमते रहते हैं अपने जीवन में भी ये ही दो जहाज यहाँ से वहाँ। इस चीज को अपने भीतर झाँककर देखें कि कहीं ऐसा जहाज हमारे अपने भीतर तो नहीं है! अगर है तो हम उसे निकालने का प्रयत्न करें।

अहंकार नहीं, गौरव

हम लोग अहंकार की जगह थोड़ा-सा गौरव करना सीख लें तो आसानी रहेगी।

जैसे - हमारा कुल बहुत अच्छा है, हम ऐसे कुल में पैदा हुए हैं जहाँ रत्नत्रय की परम्परा है, धर्म के साधन हैं। इस बात का अहंकार करना चाहें तो अहंकार कर सकते हैं और गौरव करना चाहें तो गौरव कर सकते हैं। इतना तो आराम से कर सकते हैं ? इसमें तो कोई दिक्कत नहीं ? पर हमारी जाति ऊँची है तो हम दूसरे का तिरस्कार न करें कि तुम्हारी जाति बहुत नीची है। हमारी जाति ऊँची है इस बात का गौरव करें और भावना भाएं कि हमें ऐसा ही कुल, ऐसी ही जाति जिसमें कि धर्म-ध्यान होता रहे - हमेशा मिलती रहे। इसमें तो कोई दिक्कत नहीं। हमें बहुत सुन्दर रूप मिला है तो हम दूसरे की कुरूपता का तिरस्कार न करें और न अपने उस सुन्दर रूप का अहंकार करें। बल्कि यह विचार करें कि मैंने पहले कोई अच्छा कर्म किया होगा जिससे मुझे यह सुन्दर रूप मिला। मुझे ऐसे ही अच्छे कर्म करते रहना चाहिए। यह तो बहुत बाहरी रूप है, ऐसा करने से आप अपने को भीतर से सुन्दर बना लेंगे -

सव्वत्थ सुन्दरो लोए

(यहाँ बताया है कि) जो आत्मा का वास्तविक स्वरूप प्राप्त कर लेते हैं वे पूरे लोक-अलोक में सबसे सुन्दर हैं और बाकी तो जितने भी संयोग हमें प्राप्त हुए हैं वे सब विसंवाद करानेवाले हैं। ये बाहर का रूप भला-बुरा जो भी है ये भी अपने अन्तरंग के परिणामों की वजह से होता है और कोई कारण नहीं है। मैं अच्छे परिणाम रखूँ तो मेरा रूप कुरूप भी हो तब भी सुन्दर ही मालूम पड़ेगा। किसी का सुन्दर रूप भी हो और परिणाम खोटे हों तो उसका वह रूप भी व्यर्थ है - ऐसा विचार करके, अपने उस रूप का अभिमान न करें, गौरव करें। हमारे पास अगर ज्ञान है तो उस ज्ञान से अपने जीवन में लाभ लें और दूसरे को भी वह ज्ञान दें।

दूसरों को ज्ञान देकर अत्यन्त विनयपूर्वक अपना जीवन जिया जा सकता है या अपने ज्ञान से दूसरे को अज्ञानी साबित किया जा सकता है ? अपन को थोड़ा-सा ज्ञान हो जाता है तो सोचते हैं - 'अरे ! इनको क्या ज्ञान है ? ये क्या जानें ? मैं ही सब कुछ जानता हूँ।' ऐसा भाव न लाकर - 'मैं भी जानता हूँ और मेरे उस जानने से दूसरे को क्या लाभ मिल सकता है ? दूसरे को मेरे जीवन से क्या लाभ मिल सकता है ?' इतना विचार करें, ऐसा विचार करें। अगर हम ऐश्वर्यवान हैं, धनवान हैं तो अहंकार की जगह निरन्तर इस बात का गौरव महसूस करें। ये सब चीजें हमारे रोजमर्रा के जीवन में देखने में आती हैं। कोई व्यक्ति बहुत सुन्दर है तो क्या करे ? किसी के पास खूब पैसा है तो क्या करें ? कहीं फेंक कर आ जाये क्या ? नहीं, बस इतना ही कि उस धन-पैसे का सदुपयोग करे, कभी अहंकार न करे। 'ये एक दिन नष्ट हो जायेगा, उससे पहले मैं अपने जीवन को

ऊँचा उठा लूँ - इस धन-पैसे के माध्यम से। इसके माध्यम से मेरा पतन न हो। कहीं ऐसा न हो कि इस धन-पैसे के कारण मैं अपने परिणामों को बिगाड़कर अपना अहित कर लूँ!' इतना अगर ध्यान रहे तो यह अवसर ही हमें ऊँचा उठा सकता है। सबसे बड़ा अवसर तो हमारे लिए अनन्त-चतुष्टय का है, वह प्राप्त करना है, उसी में गौरव है।

सबसे ऊँची जाति तो तीर्थंकरों की है - हम ऐसा गौरव करना चाहें कि 'मैं तो उस कुल का हूँ, उस जाति का हूँ जिसमें बड़े-बड़े तीर्थंकर हुए हैं' तो ऐसा गौरव करने में कोई हर्ज़ा नहीं है। 'मैं तो केवलज्ञान की सामर्थ्य को अपने भीतर लिये बैठा हूँ, अभी तो ये बहुत छोटा-सा क्षयोपशम ज्ञान है, मेरा स्वभाव तो केवलज्ञान है।' अपने ज्ञान का ऐसा उपयोग कर लें तो अपने जीवन में सारी चीजें आसानी से परिवर्तित कर सकते हैं। आखिर में इतनी ही बात समझनी है कि अपने जीवन में इस अहंकार को धीरे-धीरे घटाना है, हटाना है और विनय को धीरे-धीरे लाना है।

गुण-प्रशंसा ही सम्मान है

विनय आती कैसे है ? बहुत आसान तरीका है भैया ! बस धर्म और धर्मात्मा का सम्मान और प्रशंसा करना शुरू कर दें। दिन भर में जितने अवसर मिलें - दूसरों के गुणों की प्रशंसा करना शुरू कर दें; मन ही मन करना, उसके सामने मत करना नहीं तो उसका गड़बड़ हो जायेगा। मन ही मन करें, इसमें क्या दिक्कत है ? देखो, कितने बढ़िया गुण हैं - अपने मन में ही विचार कर रहे हैं, दुनियाभर की और मिथ्या बातें तो मन में नहीं आयेंगी कम से कम! जहाँ-जहाँ गुण दिखाई पड़ते हैं उन सबकी अपने भीतर प्रशंसा करना शुरू कर दें।

दूसरे नम्बर - भगवान के गुणगान करें। भगवान से प्रार्थना करें कि हमारे भीतर भी ऐसे ही गुण आना शुरू हो जायें। विनयवान होने के लिए, अहंकार से बचने के लिए सबसे अच्छा है - भगवान की प्रार्थना।

कृतज्ञता विनय है

तीसरी चीज है - जिन्दगी भर में आपके प्रति दूसरों ने जो उपचार किये हैं दिनभर में एक बार जरूर उनका विचार कर लें। किस-किस ने उपकार किये हैं ? जिन्दगी भर के न सही, दिनभर के ही सही कि आज किसने मेरे पर क्या उपकार किया ? जैसे - मेरे लिए ये बाजौटा व्यवस्थित लगा दिया, पाटा लगा दिया, तभी तो मैं यहाँ आकर पूजा/धर्म-ध्यान कर सका! जिन्होंने ये पाण्डाल लगाया वे सब मेरे धर्म-ध्यान में सहयोगी

बने, इतना उपकार मेरे पर ! ऐसा विचार करने पर कृतज्ञता आ जायेगी, ये अपने अहंकार को हटाने में सहायक होगा। अपना जीवन जीने में कितने लोगों का हाथ है ? यह सोचें, जबकि अपन सोचते हैं कि कितने लोगों के जीवन जीने में हमारा हाथ है! बस इसको थोड़ा परिवर्तित करना है। मेरे अपने जीवन जीने में कितने लोगों का हाथ है - ऐसा विचार आ जावे तो मन भीतर से कृतज्ञता से भर जायेगा।

और आखिरी बात - दूसरों की गलतियाँ न देखकर धीरे-धीरे अपनी गलतियाँ देखने का स्वभाव बनाएँ तो अहंकार कम हो जायेगा। 'एरर इज ह्यूमन टू कन्फेस इज डिवाइन' (गलती करना मानव स्वभाव है, उसे स्वीकार करना देवत्व है) - मनुष्य गलतियाँ करेगा यह स्वाभाविक है लेकिन उन गलतियों को वह स्वीकार कर ले तो वह देवता के बराबर हो जायेगा। ये चौथी बात अपने मन में, अपने ध्यान में बनी रहे। गलती हो भी जावे अपन से तो विनयपूर्वक झुककर साथ ही साथ स्वीकार कर लें। तुरन्त, देर नहीं करना, शाम हो गई तो समझो देर हो गई। बस तुरन्त ध्यान में आ जावे तभी उस चीज को अपन स्वीकार कर लें।

अपने को बहुत विशिष्ट और असाधारण मानकर विनय नहीं आ सकती। अपने को बहुत साधारण और सामान्य मानकर ही संभव है कि हमारे भीतर विनय आ सके। वाणी की विनय है - मधुर विचार; मन की विनय है श्रेष्ठ विचार; शरीर की विनय है अच्छे कार्य। सब समझते हैं कि अच्छे कार्य कौनसे हैं, मीठा बोलना क्या है और श्रेष्ठ विचार क्या है ? ये हमारे अन्दर बढ़ते जायें तो हम आसानी से इस मार्दव धर्म को, मृदुता को, कोमलता को प्राप्त कर सकते हैं।

विनय की दृष्टि

एक छोटा-सा उदाहरण है - एक राजा साहब की सवारी जा रही थी। रास्ते में बहुत पेड़ लगे थे। कुछ पेड़ आम के भी थे। उनके नीचे से होकर ही राजा साहब की सवारी निकल रही थी। इतने में एक पत्थर आकर राजा साहब के सिर से टकराया, चोट लगी। राजा साहब कुछ कहें इससे पहले ही उनके सैनिक यह पता लगाने के लिए दौड़ पड़े - कहाँ से आया यह पत्थर, किसने फेंका पत्थर ? उन्हें अधिक दूर नहीं जाना पड़ा, अधिक मेहनत नहीं करनी पड़ी पता लगाने में। एक छोटा-सा बच्चा चुपचाप-गुमसुम खड़ा था। वह भी समझ गया कि गलती तो हो गई। पत्थर राजा साहब के सिर पर पड़ा है! उस बालक की माँ भी बाजू में खड़ी थी। वह तो रोने-रोने को हो गई कि अब गया मेरा बेटा ! अब क्या करें ? गलती हो गई, वह हाथ जोड़कर खड़ी हो गई। गलती होने

पर भी उसने विनय नहीं छोड़ा। विनयवान का ज्ञान और आचरण श्रेष्ठ है, विनयहीन का ज्ञान और आचरण मिथ्या है। जो अपने गुरु के प्रति विनयवान नहीं, विनम्र नहीं उसका सारा आचरण, उसका सारा चारित्र ऊसर भूमि में बोये हुए बीज के समान है - ऐसा लिखा है। वह माँ हाथ जोड़े विनयवान बनी रही कि मेरे बेटे की गलती है। सैनिकों ने पूछा - 'इसने पत्थर फेंका है? चलो, इसे राजा के पास ले चलो।' सैनिक ले गये उस बालक को राजा के पास। राजा ने पूछा - 'बेटे, तुमने पत्थर फेंका था ?'

'हाँ, मैंने ही फेंका था' - बच्चे ने कहा।

'क्या मुझे मारने के लिए फेंका था ?' - राजा ने फिर पूछा।

'नहीं, आपको मारने के लिए नहीं फेंका था' - बालक ने बताया - 'पेड़ में आम लगे हुए हैं। पेड़ से पके आम को तोड़ने के लिए मैंने पत्थर फेंका था। आम नहीं टूटा, वह पत्थर आपको जा लगा। मुझे जो सज़ा देना चाहें, दे दें।' राजा बहुत खुश हुआ उसकी सच्चाई और विनय से। उन्होंने कुछ नहीं सोचा और तुरन्त अपने गले से हीरे का हार उतारकर बालक को दे दिया, बोले - 'जाओ, तुम्हारे लिए यही है।' माँ बोली - 'इसे तो दण्ड मिलना चाहिए था!'

राजा ने कहा- 'नहीं इसे पुरस्कृत करता हूँ। जब एक वृक्ष पत्थर लगने पर मीठे फल देता है यदि वह पत्थर मेरे पर आ लगा तो मैं इसे दण्ड कैसे दे सकता हूँ? क्या मैं अच्छा फल नहीं दे सकता ?'

ये जो भाव हैं ये हमारे भीतर की मृदुता और कोमलता है। क्या ऐसी कोमलता-मृदुता हमारे भीतर नहीं आ सकती ? कोई अपन को चोट पहुँचाये, अपन फिर भी उसके प्रति अपना मन खट्टा न करें, एक-आध बार ऐसा करें इसका आनन्द लें। ऐसा आनन्द जरूर लेना चाहिए - यही हमारा अपना स्वभाव है, ऐसे ही हम अपने जीवन को अच्छा बना पायेंगे इसी भावना के साथ बोलिये-

गुरुवर आचार्य विद्यासागरजी महाराज की जय।

❑❑❑

उत्तम आर्जव

- ❑ जीवन में उलझनें दिखावे और आडम्बर की वज़ह से हैं।
- ❑ कृत्रिमता का कारण है - हम अपने को वैसा दिखाना चाहते हैं जैसे हम हैं नहीं।

हम सभी लोगों ने पिछले दिनों अपने जीवन को अच्छा बनाने के लिए दो बातें सीखीं- जब क्रोध का अवसर आये तो हमें क्षमा-भाव धारण करना चाहिये, इससे हमारी सहनशीलता, हमारा धैर्य, हमारी क्षमता बढ़ती है। और दूसरी चीज कि जब मान-सम्मान या अपमान की बात आ जाय तब भी हमें अपनी विनम्रता, अपनी कोमलता, अपनी मृदुता को बनाये रखना चाहिये। ऐसे अवसर आते हैं जिनमें हम दूसरों के प्रति कठोर हो जाते हैं। अपने प्रति तो हम बहुत लाइटली (सरल/हल्का) लेते हैं और दूसरे के प्रति कठोर हो जाते हैं। हमें इन दोनों चीजों से बचना चाहिये और अपनी जैन्टिलनैस (कोमलता/भद्रता), अपनी मृदुता बनाये रखना चाहिये- ये हमने पिछले दिनों सीखा। अपन ने देखा कि जैसा हम अपने जीवन को बनाना चाहें वैसा बना सकते हैं। **हमारी कमजोरियाँ जो मजबूरी की तरह हमारे जीवन में शामिल हो गई हैं, उनको अगर हम रोज-रोज देखते रहें और उन्हें हटाने की भावना भाते रहें तो बहुत आसानी से इन चीजों को अपने जीवन में घटा-बढ़ा सकते हैं।** जो चीजें हम अपने जीवन में शामिल करना चाहें उन्हें शामिल कर सकते हैं और जिन्हें दूर करना चाहें उन्हें दूर कर सकते हैं। हमारे जीवन का प्रभाव आसपास के वातावरण पर भी पड़ता है- हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये। कोई कहे कि मैं गुस्सा करता हूँ तो आपको क्या तकलीफ है? आपको क्या मतलब है उससे? नहीं भैया! हमारे गुस्सा करने से आसपास का वातावरण भी बिगड़ जाता है। जब हमारे अन्दर कठोरता आती है तो आसपास का परिवेश भी दूषित होता है। हम दुःखी होते हैं तो दूसरे व्यक्ति पर भी उस दुःख का प्रभाव पड़ता है। इसलिए हमें यह ध्यान रखकर कि अपने जीवन से आसपास भी प्रभावित

होता है- व्यवहार करना चाहिये। हमारे व्यवहार से बच्चे तो बहुत प्रभावित होते हैं।

एक बार बच्चे लोग आपस में खेल खेल रहे थे, खेल था- बड़े भैया और छोटे भैया। उनके घर में उनके पिताजी दो भाई थे। अब तो कुछ दिन बाद चाचा-ताऊ का, मौसी का रिश्ता मिलना ही कठिन हो जायेगा। लोग ऐसा कहेंगे कि ये रिश्ते पहले हुआ करते थे। हाँ तो वे बच्चे छोटे भैया व बड़े भैया का खेल खेल रहे थे। एक उनके पिताजी और एक उनके चाचा हैं घर में। खेल खेलते-खेलते जो छोटा भैया बना था उससे कुछ गड़बड़ हो गई, जो बड़े भैया बने थे उन्होंने उसे डाँट दिया। छोटे भैया ने कहा- 'खेल खत्म। नहीं खेलते।'

'अरे, क्यों?'

'तुमने सब गड़बड़ कर दिया'- छोटे भैया ने कहा।

'मैंने क्या गड़बड़ कर दिया?' बड़े भैया ने पूछा।

'तुमने डाँटा क्यों?'

'वाह! तुम खेल गलत करोगे तो हम डाँटेंगे नहीं?'

'नहीं! हम बड़े भैया और छोटे भैया का खेल खेल रहे हैं। और हमने (घर में) बड़े भैया को छोटे भैया पर डाँटते कभी देखा ही नहीं। तुमने डाँटा तो खेल ही गड़बड़ कर दिया।'

बच्चे हर चीज को फॉलो (अनुकरण/अनुसरण) करते हैं। मेरे कहने का आशय यह है कि खेल खेल रहे हैं तब भी उनके भीतर जो इम्प्रॅशन (प्रभाव) है वह वास्तविक बातों का है, इस बात का ध्यान रखना है। परिवार में एक-दूसरे के प्रति यदि क्रोध का व्यवहार करते हैं, घृणा का व्यवहार करते हैं, कठोरता से पेश आते हैं तो मालूम होगा कि हम अपने परिवार को ही नहीं, आस-पास के परिवेश को भी दूषित करते हैं। उन्हें भी वह ही/वैसा ही करने के लिए प्रेरणा देते हैं। हमारे जीवन से जितनी प्रेरणा मिलती है उतनी हमारी वाणी से नहीं मिलती। वाणी से प्रेरणा थोड़ी मिलती है, जीवन से प्रेरणा तुरन्त मिलती है यही देखने में आता है।

मन-वचन-काय की सरलता ही आर्जव

मन-वचन-काय की सरलता का नाम आर्जव धर्म है। सरलता क्या है और कैसे देखने में आती है इसके लिए कहा है-

मन में होय सो वचन उचरिये,
वचन होय सो तन सों करिये।।

इस तरह की प्रक्रिया में मन-वचन-काय तीनों की बात है। जो मन में है वह उतनी ही भली हो कि उसके बारे में बात करने में कोई शर्म नहीं लगती, उसे शरीर से करने में कोई गड़बड़ी नहीं मालूम पड़ती- इतनी सरलता आ गई और ऐसा निर्मल चित्त हो गया- यह अर्थ है मन-वचन-काय की ऋजुता का। ऐसा नहीं है कि जो मन में आया गड़बड़-सड़बड़ वह वचन से कह दिया। जैसे आपके मन में आ रहा है कि ... आप किसी को धक्का देवें और आपने धक्का दे दिया, क्योंकि आपने ही तो कहा था कि सरल होना चाहिये, जो मन में आया कर देना चाहिये। ऐसा नहीं है। मन में इतनी सरलता हो कि उसे वाणी से कह सकें और उसे शरीर से करने में भी कोई क्षति न हो, किसी की भी, हमारी अपनी भी नहीं और दूसरों की भी नहीं- ये मन-वचन-काय की सरलता है। हम क्या करें? हमारी सरलता गड़बड़ा गई है। थोड़ा दिखावा, थोड़ा प्रदर्शन, बनावटीपन, मिलावट- ये सारी चीजें हमारे जीवन में शामिल हो गई हैं। इन चीजों से हम कैसे बचें? दूसरों के साथ छल करने की, उन्हें धोखा देने की, ठगने की एक आदत हो गई है, उसे हम कैसे बदलें? यदि हमारी यह आदत छूट जावे तो सरलता तो हमारा अपना स्वभाव है। मन-वचन-काय तीनों एकदम सरल हो जायेंगे यदि हम दिखावा न करें, यदि हम बनावटीपन न लाएं। यदि हम छल-कपट, दूसरे को धोखा देने या ठगने का भाव अपने भीतर न लाएं तो हमारा जीवन बिल्कुल सरल ही है क्योंकि सरलता तो हमारा स्वभाव ही है— ऋजोर्भावः आर्जवं।

हम देखें कि जिसे मायाचारी कहते हैं, जिसे ठगना कहते हैं वह किस तरह का है? हम दूसरे के साथ इस प्रकार का व्यवहार करेंगे तो हमें लाभ होगा- ये जो लाभ की प्रवृत्ति हमारे भीतर आती है, जब इस तरह का भाव हमारे मन में आ जाता है तब हम छल-कपट आदि सब चीजों को करना शुरू कर देते हैं। आज अपने जीवन में इतनी ज्यादा कठिनता-कृत्रिमता बढ़ी हुई है यह ठीक नहीं है। कृत्रिमता का कारण क्या है? हम अपने को वैसा दिखाना चाहते हैं जैसे हम नहीं हैं- बस इतना ही कारण है। हम जैसे हैं वैसा ही दूसरे के सामने प्रस्तुत कर देवें तो हमें लगता है कि इससे तो हमारी हेठी हो जायेगी। इसमें लाभ नहीं दिखाई पड़ता, हम अपना लाभ देखने के लिए इस तरह अपने जीवन को बना लेते हैं जिसमें छल-कपट, दिखावा-प्रदर्शन, आडम्बर- ये सारी चीजें शामिल होने लगती हैं। इनसे बचना चाहिये - यह सब समझते हैं। मन में दूसरों के प्रति छल-कपट का भाव अधिक टिकता भी नहीं, थोड़े समय भले टिक जाय, ज्यादा समय नहीं टिकता। पर इससे हमारी प्रामाणिकता, हमारी विश्वसनीयता धीरे-धीरे करके नष्ट होती जाती है- सबको मालूम है। बच्चों की कहानी में आता है न कि एक आदमी

हमेशा दूसरों को तंग करने के लिए अपने खेत में से आवाज देता- बचाओ, बचाओ, मुझे बचाओ, भेड़िया आ गया, मेरी भेड़ों को ले गया। आस-पास से सब लोग आकर इकट्ठे हो जाते तो वह हँसने लगता कि 'बुद्धु बनाया, भेड़िया नहीं आया।' जब एक दिन सच में ही भेड़िया आ गया तो कोई मदद करने नहीं आया।

यह बहुत सीधी-सी चीज है। दूसरे के साथ हम ऐसा रूखा व्यवहार करेंगे, ऐसे दूसरे के साथ छल-कपट करेंगे, धोखा देंगे और इसमें आनन्द मानेंगे तो हमारी विश्वसनीयता और प्रामाणिकता दोनों ही धीरे-धीरे करके खत्म हो जायेंगी। वर्तमान में यही हो रहा है। हम कृत्रिम हो गये हैं, दिखावा करने लगे हैं जिससे लोगों के मन में हमारे प्रति विश्वास नहीं रहा, एक-दूसरे के प्रति सन्देह ज्यादा हो गया, यहाँ तक कि परिवार में भी एक-दूसरे के प्रति सन्देह ज्यादा है- विश्वास कम है। भैया! रिश्ते तो सब विश्वास से चलते हैं, रिश्ता चाहे भगवान से हो या संसार के व्यक्तियों से या वस्तुओं से। सभी सम्बन्ध विश्वास के और श्रद्धा के हैं। यदि हम श्रद्धा और विश्वास बनाये रखना चाहते हैं तो हमारा फर्ज़ है कि हम आडम्बर से बचें, अपने मन को सरल बनाने की कोशिश करें। आज सरलता के मायने क्या हैं? मैं एक दिन बैठे-बैठे डिक्शनॅरी (शब्दकोश) में देख रहा था तो चार-पाँच शब्द मिले। अपन उन पर विचार करेंगे तो थोड़ा मालूम पड़ेगा कि किन समयों में हम कठोर हो जाते हैं और किन समयों में हम सरल हो जाते हैं। कठोर होना और कठिन होना- इन दोनों में फर्क़ समझें। अपन ने कल कठोर होने की बात समझी थी। आज कठिन, जटिल-कॉम्पलेक्स की बात है। ये एकदम अलग चीज है। कोई चीज उलझ जाती है न, जैसे- रस्सी वगैरह, फिर उसे सुलझाने में कैसा होता है? और अधिक उलझती जाती है वह। ऐसे ही हम अपने जीवन में कुछ इस तरह की चीजें शामिल कर लेते हैं जिनसे हमारा जीवन उलझ जाता है, फिर पूरी जिन्दगी सुलझा नहीं पाते हम। जीवन की ये उलझनें काहे की वजह से हैं? दिखावे की वजह से, आडम्बर की वजह से। भैया, आज जैसा शो (प्रदर्शित) कर दिया अपने आपको अब उसे जीवनभर मेन्टेन करना (कायम रखना) पड़ेगा। आज किसी के सामने आपने अपने को जैसा प्रस्तुत कर दिया अब उसके सामने हमेशा वही चेहरा लगाना पड़ेगा। ऐसा उलझा हुआ जीवन है। ऐसे कठिन जीवन को हम कैसे सरल बनाएँ? इस पर हम विचार करें।

सरलता के मायने हैं- ईमानदारी, सरलता के मायने हैं-स्पष्टवादिता, सरलता के मायने हैं- उन्मुक्त हृदय होना, सरलता के मायने है- सादगी, सरलता के मायने है- भोलापन-इनोसेन्ट, वार्महार्टेड (संवेदनशील, सहृदय) और स्ट्रेटफॉर्वर्ड (निष्कपट/स्पष्ट)।

विभिन्न अवसरों पर हम हमारे भीतर झाँककर देखें कि ये चीजें हमारे भीतर हैं

कि नहीं! अगर नहीं हैं तो कोई बात नहीं, धीरे-धीरे करके अपने अन्दर प्रकट करने का प्रयास करेंगे। दो ही चीजें हैं- या तो इन चीजों को अपने अन्दर प्रकट करें या फिर जो इनसे अगेन्स्ट (प्रतिकूल/विरोधी) चीजें हैं, विपरीत बातें हैं उनसे धीरे-धीरे बचने का प्रयास करें। ईमानदार होने पर एक मुश्किल खड़ी हो सकती है। दूसरे व्यक्ति हमें धोखा दे सकते हैं। सरल होने पर भी यही मुश्किल अपने जीवन में खड़ी हो जाती है कि लोग मिसचीफ (अनिष्ट, हानि, कुटिल व्यवहार) करना शुरू कर देते हैं। ये मुश्किल थोड़ी बढ़ेगी पर इसके बाद भी हमें अपनी ईमानदारी को बनाये रखना है। किसी ने हमें ठग लिया तो हम भी उसे ठग लें यह गलत बात है। यह बात मनुष्य जीवन में सीख लेना है कि-

कबिरा आप ठगाइये, और न ठगिये कोय।
आप ठगाये सुख उपजे, पर ठगिये दुख होय॥

कोई अपने को ठग ले तो कोई हर्ज़ा नहीं है क्योंकि इस बात का सन्तोष बना रहता है कि मैंने तो किसी को धोखा नहीं दिया, मैंने तो किसी को नहीं ठगा। एक बार किसी को धोखा दे देवें, ठग लें या दूसरे के साथ छल-कपट कर लें तो यह जीवन ही नहीं, अगले-दूसरे जीवन में भी हमें दुःख ही भोगना पड़ेगा। ठगे जाने या ठगाये जाने पर थोड़ी देर तो दुःख उत्पन्न होगा कि देखो, इन्होंने हमारे साथ ऐसा किया पर इतना तो सन्तोष है मन में कि हमने तो किसी के साथ ऐसा नहीं किया!

बच्चों की कहानियों में एक छोटी-सी घटना आती है जो हमें संदेश देती है, हाँ, छोटी-छोटी घटनाएँ भी बड़ा संदेश दे देती हैं-

एक बार एक व्यक्ति जंगल में भटक गया। जंगल में उसने एक शेर देखा। उसे देखकर वह आदमी डरकर एक पेड़ पर चढ़ गया। उसने देखा पेड़ पर पहले से ही एक रीछ बैठा हुआ है। अब तो वह और भी डर गया- अब यहाँ यह रीछ न खा जाये! पर रीछ उस आदमी से कुछ नहीं बोला। आदमी समझ गया कि ये भी विपत्ति में है- मुसीबत में है। इतने में वह शेर भी उसी पेड़ के नीचे आकर बैठ गया। (हाँ, बच्चों की कहानी ऐसी ही होती है।) शेर को भी भूख लगी थी, उसने सोचा कि 'ये दोनों थोड़ी देर में थक जायेंगे तो कोई तो नीचे गिरेगा/आयेगा, तब एक तो मिल ही जायेगा अपन को। अपना काम चल जायेगा।' रात घिरने लगी। थोड़ी देर बाद रीछ ने उस आदमी से कहा- 'सुनो, अपन एक-एक करके थोड़ी-थोड़ी देर सो लें, कोई विपत्ति आ जायेगी तो अपन एक-दूसरे को बचा लेंगे।'

मनुष्य ने कहा- 'ठीक है'।

रीछ ने कहा- 'पहले हम सो जाते हैं, फिर थोड़ी देर बाद तुम सो जाना।'

रीछ सो गया। कुछ देर बाद शेर ने उस आदमी से कहा- 'मुझे भूख लगी है। मैं तुम दोनों में से एक को खाऊँगा। अभी ये रीछ सो रहा है। तू धीरे-से इसे धक्का दे दे। मैं इसे खाकर लौट जाऊँगा, तू बच जायेगा।'

शेर की बात सुनकर आदमी ने कहा- 'ठीक है। इसमें क्या दिक्कत है!'

आदमी की ईमानदारी बड़ी जल्दी गायब हो जाती है! बड़ी कठिनाई है। उसने रीछ को धक्का देने के लिए जैसे ही हाथ बढ़ाया कि रीछ की नींद खुल गई। वह समझ गया/जान गया कि यह मुझे जमीन पर गिराना चाह रहा था, फिर भी उसने मनुष्य से कहा- 'अब तुम सो जाओ।'

आदमी ने सोने का बहाना किया। जो दूसरे के साथ विश्वासघात करते हैं उन्हें (अपने लिए भी) दूसरों में अविश्वास बना रहता है। इसलिए वह मनुष्य सो नहीं सका पर सोने का बहाना करता रहा। शेर ने अब रीछ से कहा- 'देख! यह तेरे साथ धोखा कर रहा था। अब ये सो रहा है, तू इसे धक्का दे दे।'

रीछ ने कहा- 'सुनो! मैं मनुष्य नहीं हूँ। मैं धोखा नहीं दे सकता।'

इससे क्या मालूम पड़ता है? हमारे भीतर आज/वर्तमान में दूसरे के प्रति धोखा देने का, छल करने का भाव कितना अधिक बन गया है! कहानी लिखनेवाले को उस पशु में मनुष्य से बड़ा/अधिक विश्वास दिखाना पड़ा, मनुष्य को धोखा देनेवाला बताना पड़ा। जबकि मनुष्य को विश्वासी होना चाहिये था, ईमानदार होना चाहिये था। जब कोई हमें ठगे, हमारे साथ धोखा करे, छल-कपट करे तब भी हमें अपनी ईमानदारी नहीं छोड़नी चाहिये।

बाबा भारती के घोड़े की बात सबको मालूम है। बाबा भारती से डाकू ने घोड़ा छीन लिया लेकिन बाबा भारती ने डाकू से क्या कहा? कि 'ये बात किसी से कहना मत नहीं तो लोगों का विश्वास उठ जायेगा कि दीन-हीन की मदद नहीं करनी चाहिये।' एक बार हम धोखा दे देते हैं तो हमारी ईमानदारी पर सन्देह होने लगता है, हमारी विश्वसनीयता पर सन्देह होने लगता है, हमारी प्रामाणिकता पर सन्देह होने लगता है। इसलिए सरलता वही है जिसमें हम ईमानदार रहते हैं, दूसरों के साथ छल नहीं करते, विश्वास और प्रामाणिकता बनाये रखते हैं। दुकान हो, बाजार हो या घर हो, या सामाजिक-धार्मिक स्थल, हमें हमेशा अपनी प्रामाणिकता और विश्वसनीयता बनाये रखने के लिए ईमानदार बने रहना चाहिये चाहे दूसरा हमारे साथ विश्वासघात करे- बेईमानी करे। हमारा हृदय उन्मुक्त होना चाहिये।

हमें कम से कम अपनों के प्रति तो दुराव व छिपाव का भाव नहीं रखना चाहिये। लेकिन जब हमारी आदत हो जाती है तब हम अपनों के प्रति भी दुराव-छिपाव रखने लगते हैं। तब हम खुले हृदय से मिल नहीं पाते। किसी व्यक्ति के प्रति अगर आप अपने मन में किसी तरह के छल करने का, धोखा देने का भाव रखेंगे या कोई दुराव होगा आपके मन में तो आप उससे बचकर चलेंगे, कटकर चलेंगे, सहसा उसका सामना नहीं कर पायेंगे। वार्म हार्टेड (संवेदनशीलता से, सहृदयता से) नहीं मिल पायेंगे, अपने खुले दिल से नहीं मिल पायेंगे। आज ये चीज (खुला दिल) बहुत कम हो गई है। आज यदि भैया बहन से राखी बँधवाने जाता है तो वह भी खुले दिल से नहीं मिलता, भीतर में यह रहता है कि पता नहीं कितना देना पड़ेगा! बजट तो इतना ही है! अरे! खुले दिल से मिलो, कहो- 'बहन! इस बार कुछ नहीं दूँगा, मेरे पास कुछ नहीं है देने को या इतना ही है। मैं तो बस ये शब्द लिखकर दे रहा हूँ कि मेरी बहन सौ बरस तक जीवे। आज रक्षाबंधन पर मेरी ये ही कामना है, और कुछ नहीं है मेरे पास।' लेकिन नहीं, दिखावा करेंगे अपनी सामर्थ्य से ज्यादा। सम्बन्धों में ऐसा आ गया है कि नहीं आ गया! अगर इतना ही अपन खुले हृदय से कह देते तो हमारे सम्बन्ध अच्छे बने रहते, कोई उलझन भी नहीं आती। लेकिन अपन अपने हाथ से उलझनें पैदा करते हैं। इससे बचना चाहिये।

गणेशप्रसाद जी वर्णी चिरौंजाबाई के धर्मपुत्र थे। बड़े संवेदनशील थे वे । बड़ी करुणा आ जाती थी उन्हें। एक बार एक विद्यालय में बच्चों के भोजन आदि के लिए चन्दा एकत्र किया जा रहा था। वर्णीजी ने भी तीन सौ रुपये बोल दिये। सन् उन्नीस सौ पैंतीस-छत्तीस में तीन सौ रुपये बहुत होते थे। वर्णीजी को तीन रुपये महीना फल आदि खाने के लिए मिलते थे। उन्होंने सोचा कि इन तीन सौ रुपयों के बारे में बाईजी को नहीं बतायेंगे, नहीं तो डाँट पड़ेगी। अब देखिये सम्बन्ध कैसे बिगड़ जाते हैं! कैसे अपने आप उलझन खड़ी हो जाती है! यदि सीधे-सीधे आकर कह देते कि हम तीन सौ रुपये दान कर आये हैं तो क्या बिगड़ जाता? लेकिन नहीं बताया और फल खाना बन्द कर दिया। बाईजी से जो तीन रुपये महीना मिल रहे थे उन्हें पासबुक से जमा कराना शुरू कर दिया। तीन-तीन रुपये जुड़ते जायेंगे, कब तक? दस महीने में तीस, सौ महीनों में तीन सौ, हिसाब लगा लिया। हिसाब में पक्के थे। पर जिन्दगी हिसाब से नहीं चलती, जिन्दगी विश्वास से चलती है भैया! पर अपन लोग हिसाब-किताब की जिन्दगीवाले हो गये हैं। हिसाब-किताब से थोड़ी देर ही चलती है दुनिया, पूरी जिन्दगी के लिए विश्वास चाहिये। बाईजी को लगने लगा कि ये मेरे से कटा-कटा-सा रहता है, क्या बात है? रहना ही पड़ेगा, आँख नहीं मिला सकते अगर दिल में कोई खोट है तो। हाँ, ये बात अलग है कि

अब इतने पक्के हो जाते हैं, इतने होशियार हो जाते हैं कि बाहर पता तक नहीं लगने देते कि अपन दूसरे के साथ धोखा कर रहे हैं, ऐसा भी होता है कई बार। पर कहीं न कहीं से तो मालूम पड़ ही जाता है। घास-फूस में बन्दर छिपकर बैठ जाये तो कितनी देर? वह निश्चल बैठ नहीं सकता। थोड़ी देर में हिलेगा और पकड़ में आ जायेगा। इसीलिए कहा जाता है कि छल किसी के साथ ज्यादा दिन तक नहीं टिकता। और एक दिन बाईजी को वह पासबुक हाथ लग गई। इसमें पैसे जमा हो रहे हैं! क्या बात है? बाईजी ने उस दुकानदार से जिससे वर्णीजी फल खरीदते थे, पूछा- 'आजकल हमारा बाबू फल-फूल लेता है कि नहीं?'

'नहीं बाई, वे तो बहुत दूर से रास्ता काटकर निकल जाते हैं। दुकान के सामने से निकलते ही नहीं।' फलवाले ने कहा।

'अच्छा! ये सब बातें चल रही हैं!'

जब वर्णीजी विद्यालय से पढ़कर आये तो बाईजी ने कहा- 'काहे भैया! ये मिथ्या व्यवहार हमारे साथ करना कब से सीख लिया?'

सीधा कह दिया बाईजी ने। वर्णीजी ने हाथ जोड़ लिये और सारी घटना सुना दी। थे तो सरल हृदय लेकिन डर गये थे इसलिए ऐसा करना पड़ा। बाईजी ने कहा - 'अरे! तुमने ऐसा पुण्य का कार्य किया तो हमारे साथ ऐसा मिथ्या आचरण करने की क्या आवश्यकता थी? आज के बाद से सब सम्पत्ति तुम्हारी। जहाँ जैसा दान करना हो सो करो। मगर हमारे साथ रहकर मिथ्या व्यवहार मत सीखो। सरल बनो।'

क्या ऐसी बात हम अपने परिवारजनों से कह पाते हैं? अपने बच्चों से कह पाते हैं कि तुम्हारे अन्दर जैसा है वैसा कह दो, उन्मुक्त हृदय होकर। अगर ऐसे सम्बन्ध हों हमारे तो वे हमारे जीवन को ऊँचा उठाने में मदद करेंगे। और इसके साथ ही है- स्पष्टवादी होना। यह भी सरलता का ही कार्य है। इस बारे में भी वर्णीजी के जीवन का एक उदाहरण है। असल में हमारे भीतर जो कमजोरियाँ हैं हम उनको दूसरों को नहीं बताना चाहते। क्यों नहीं बताना चाहते? मुश्किल ये है कि दूसरा व्यक्ति उन कमजोरियों को जानकर मखौल उड़ाता है। यदि दूसरे की कमजोरी को अपने जैसी ही मान लें, उसकी मखौल न उड़ायें तो दूसरा अपनी कमजोरी कहने के लिए आसानी से उन्मुक्त हो जायेगा। नहीं तो उसको लगता है कि इसको कमजोरी बता देंगे तो ये ब्लैकमेल (भय से बाध्य) करेंगे हमें। इसलिए वह किसी को भी अपनी कमजोरी नहीं बताना चाहता, अपने परिवारजनों को भी अपनी कमजोरी नहीं बताना चाहता। अगर कमजोरी बताने से अपमान मिले तो कौन बतायेगा अपनी कमजोरी? कमजोरी बताने से सम्मान में कमी न

आवे बल्कि सत्यवादिता के लिए पीठ थपथपाई जाये तो कमजोरी बता दी जायेगी। और भैया! बार-बार कमजोरी बताने में भी आदमी को शर्म लगेगी इसलिए निकाल ही देगा वह कमजोरी। वर्णीजी की ये बहुत सरलता थी कि उनके अन्दर जो कमजोरी होती थी वे बता देते थे- भैया, हम तो ऐसे हैं। हमारे बारे में कोई मिथ्या धारणा नहीं बनाना। हम यदि भले हैं तो ठीक है भले हैं और यदि बुरे हैं तो तुम्हें ऐसा शो (दिखावा) नहीं करेंगे कि हम तो बहुत भले हैं! यदि बुरे हैं तो बुरे ही हैं। एक बार एक भरी सभा में किसी ने वर्णीजी से पूछ लिया- 'क्यों वर्णीजी! भिण्डी भक्ष्य है कि अभक्ष्य?'

अब क्या कहे वर्णीजी ! मालूम है उन्होंने क्या जवाब दिया ! बोले- 'ए भैया! हमें तो भात है तो हम खात हैं।' मतलब हमें रुचिकर लगती है इसलिए हम तो खाते हैं। इतना ही कहा, इसमें पूरा जवाब हो गया कि वर्णीजी खाते हैं इसका मतलब अभक्ष्य तो नहीं है। पर वर्णीजी छोड़ नहीं पा रहे- ये कमजोरी है। उन्होंने अपनी कमजोरी भी बता दी और यह भी कह दिया कि है तो खाने की चीज लेकिन मैं अभी छोड़ नहीं पा रहा। अपने प्रति इतना स्पष्टवादी होना बहुत कठिन बात है। दूसरों का कोई दोष दिख गया तो चार लोगों से कहते फिरेंगे और फिर बाद में कहेंगे - 'तो क्या हम झूठ बोल रहे हैं? देखा था हमने, कोई गलत थोड़े कह रहे हैं हम!' ये स्पष्टवादिता नहीं कहलाती भैया! अपने बारे में स्पष्ट होना है स्पष्टवादिता, ये ही हमें सरल बनायेगी, ये ही लायेगी सादगी और भोलापन।

मेरे सामने सादगी का एक उदाहरण आया- एक अम्माजी थीं, वृद्ध हो गई थीं, थीं बहुत सरल। उन्होंने अपने जीवन में कभी फोटो नहीं खिंचवाई थी। एक दिन घर के बच्चों ने कहा कि- 'अम्मा अपने परिवार का एक फोटो होना चाहिये। अब आपकी तो उम्र भी अस्सी साल की हो गई, आपकी तो जरूर होनी चाहिये, बाद में भी सब लोग देखेंगे।' छोटा-सा गाँव था। उस समय तो उस गाँव में फोटोग्राफर भी नहीं था। बच्चों ने कहा- 'अम्मा, पास में ही तीस-चालीस किलोमीटर पर शहर है, वहाँ चलते हैं।'

'नहीं भैया, हमें नहीं खिंचवानी फोटू। जिन्दगी निकल गई हमने नहीं खिंचवाई फोटू'- अम्मा ने कहा।

कितनी सरलता थी उनकी कि अब क्या फोटू खिंचवाना है! बच्चों ने कहा- 'ठीक है, अम्मा नहीं मानती तो उन्हें मत ले चलो। चलो, अपन चलें। अपन सब तो खिंचवा आयेंगे फोटो।' और बच्चे चले। सीढियों से नीचे तक उतर गये तो अम्मा ने आवाज दी - 'ए भैया! सुनो तो! हम तुम्हें मना कर दिये हैं, हमारी नहीं खिंचवाके ले आना फोटू।'

अब बताइये ये सादगी है कि नहीं, सरलता है कि नहीं! जब तक जायेंगे नहीं तब तक फोटो कैसे खिंचेंगी? पर इतना भोलापन है, इतना सरल मन है कि जो चीज पसन्द नहीं वह नहीं करनी। ऐसी सादगी हमारे जीवन में आ सकती है क्या? ऐसी सादगी बच्चों में देखने को मिलती है। उनके पास रहें घण्टेभर। किसी ने लिखा है-. अगर आप सरल और सच्चे होना चाहते हैं तो बच्चों के बीच थोड़ी देर बिताओ। वे आपको सिखायेंगे कि कैसे सरल और सच्चे होना चाहिये।

एक घटना है, सबको मालूम होगी ये घटना। हम ऐसी छोटी-छोटी घटनाएँ ही बता रहे हैं। हाँ, अक्सर होता है घर में कि अपन किसी से नहीं मिलना चाहते हैं तो छोटे बच्चे से कहला देते हैं कि 'कह दो, पापा नहीं है घर में।' नहीं होता ऐसा? अब बच्चे तो बच्चे हैं, इनोसेन्ट (भोले) होते हैं, कह दिया- 'पापा कह रहे हैं कि कह दो पापा घर में नहीं है।' वह क्या करे? उसे तो नहीं मालूम कि इसमें कौनसी चाल है? उसे नहीं मालूम कि इसमें कौनसा भाव है इनका? उसने तो जैसा था वैसा कह दिया। इसको कहते हैं- भोलापन। हालांकि इसमें घाटा बहुत है, लेकिन ये घाटा थोड़ी देर का है, घाटा तो उसमें है और वह भी अपने को ठगने का घाटा लेकिन ये महसूस हो तब ना, जिस दिन लगने लगे सवाल तो ये है। अभी तो ऐसा लगता है कि ऐसा करने में (छल-कपट में) लाभ है। ऐसा करने में मेरा जो घाटा है वह जिस दिन दिखने लगे तब ना!

हमें वर्तमान में ही लाभ नहीं देखना चाहिए। यदि अपने जीवन का पतन होता है तो वह सबसे बड़ा घाटा है। वर्तमान में घाटे-लाभ से जीवन चलता है, ऐसा ही कहते हैं अपन। पर घाटा और लाभ का जीवन को ऊँचा उठाने और पतित होने के सन्दर्भ में विचार करना चाहिये। ऐसा विचार करना बहुत जरूरी है। हम अपने जीवन में इन सारी चीजों (सरलता-सादगी आदि) को ला पायेंगे! हमारा छल-कपट करने का भाव किसी से छिपता नहीं है भैया! समस्या ये है कि सब एक-दूसरे को गलत ही समझते हैं। हमारे भीतर छल है तो हमें दूसरे के भीतर भी छल ही दिखता है। क्योंकि हम दूसरे के प्रति सन्देह करते हैं, हमें लगता है कोई विश्वास करने योग्य नहीं है। तो दूसरा भी हम पर विश्वास नहीं करेगा। ये डिसक्वॉलिटीज (अयोग्यताएँ, अनर्हताएँ) हमारे भीतर बढ़ती चली जाती हैं।

सरलता को बहुत सरल ढंग से ही समझना चाहिये। सरलता पर प्रवचन कर दिया और वह प्रवचन भी कठिन हो तो मुश्किल हो जायेगी। एक छोटा सा उदाहरण है जिससे बात और समझ में आ जायेगी। यह उदाहरण बहुत प्रचलित है, सभी लोग इस उदाहरण को जानते होंगे पर इस अवसर पर अपन फिर से याद करते हैं।

एक बुढ़िया अम्मा चली जा रही थी रास्ते से, सिर पर पोटली लेकर। उधर से एक घोड़ेवाला (घुड़सवार) निकला। बूढी अम्मा बोझ से थक गई थी। उसने घुड़सवार से कहा- 'ए घोड़ेवाले! हमारी ये पोटली घोड़े पर रख लो, हमको थोड़ी दूर ही जाना है, वहाँ ले लेंगे अपनी पोटली।'

घोड़ेवाले ने कहा- 'ए बुढ़िया! टाइम नहीं है। मैं क्या इसी के लिए अपना घोड़ा लेकर निकला हूँ?' और घुड़सवार आगे बढ़ गया।

थोड़ी दूर आगे जाने के बाद घुड़सवार के मन में छल आ गया। क्या पता बूढ़ी अम्मा की पोटली में क्या-क्या माल-ताल बँधे हैं! पोटली ले लेनी चाहिये और लेकर भाग जाना चाहिये। वापस आया वह। सरल बनना बहुत आसान है, सरल दिखना बहुत आसान है पर सरल होना बहुत कठिन है। सब कोशिश करते हैं कि सरल दिखें, भले ही सरल न हों। हाँ, बड़ी कठिन बात है। सरल बने फिरना, सरल दिखना- इसकी चर्चा नहीं कर रहे अपन। भीतर से सरल हो जाय तो सब ठीक हो जाय। उस घुड़सवार ने लौटकर बड़े सरल बनने की कोशिश की, सरल दिखने की कोशिश की और कहा- 'अरे अम्मा। हमारी तो गलती हो गई। आप इतना बोझा कैसे ढोएँगी? लाओ, हमें दे दो।'

हाँ, दुनियाभर की बातें आ जाती हैं जब भीतर कुछ गड़बड़ आती है तो। अब बुढ़िया ने इन्कार कर दिया। घुड़सवार कहने लगा- 'अरे बुढ़िया अम्मा! तेरे को किसी ने क्या कह दिया?'

बुढ़िया अम्मा ने कहा- 'तेरे मन में जिसने कह दिया उसने ही मुझ से कह दिया।' हाँ और कोई नहीं आया था इस बीच में। लेकिन जिसने घुड़सवार के मन में कह दिया था उसी ने बुढ़िया को कह दिया कि अब वहाँ छल आ गया है।

भैया! अपन कितनी बार इन सब चीजों को पढ़ते हैं, सुनते हैं! बस, अब इन बातों पर थोड़ा विचार करना शुरू करें शांति से बैठकर तो इससे अपने जीवन को अच्छा बनाने की प्रेरणा मिलेगी। इसी भावना के साथ कि हमारा जीवन अच्छा और सरल बने-

गुरुवर आचार्य विद्यासागरजी महाराज की जय!

❑❑❑

उत्तम शौच

- अपन आनन्द लें उस चीज़ में जो अपने को प्राप्त है।
- हमें जो अपने पास है वह नहीं दिखाता, जो दूसरे के पास है हमें वह दिखता है।

हम सभी लोगों ने पिछले दिन जब बैठे थे तब अपने जीवन में क्रोध न आवे- इसकी तैयारी कैसे की जाय- इस बात पर विचार किया था। हमारे मन में कोमलता बनी रहे, हम विषम परिस्थितियों में भी कठोर न हो पायें- इस बात पर भी हमने विचार किया और कल जब हम बैठे थे तो हमने विचार किया था कि आत्मप्रवंचना के चलते हम सोचते हैं कि हम दूसरों को ठग रहे हैं पर ठगते अपने को ही हैं और अपना जीवन कठिन बना लेते हैं। मुश्किलें हमारे जीवन में तब खड़ी होती हैं जब हम अपने आपको धोखा देते हैं। या अंपने बारे में स्वयं ही धोखा रखते हैं तब मुश्किलें खड़ी होती हैं। अपनी मुश्किलों को आसान करने के लिए, कठिनाइयों को आसान करने के लिए हमारे मन में सरलता होनी चाहिये, ईमानदारी होनी चाहिये, हमारे भीतर उन्मुक्त हृदयता होनी चाहिये। और इतना ही नहीं हम स्पष्टवादी होवें, बहुत सीधा-सादा जीवन जीने का प्रयास करें। जितना बन सके भोलापन लावें। बच्चों में होता है भोलापन, पर वह अज्ञानतापूर्वक होता है, वह इतना काम का नहीं है जितना कि ज्ञान हासिल करने के बाद का भोलापन है। निशंक होकर, बहुत सहज होकर, भोलेपन से जियें तो हमारा जीवन बहुत ऊँचा और बहुत अच्छा बन सकता है।

हम देखें कि हमारे जीवन में और क्या-क्या चीज होनी चाहिये। हम अपने आप से क्या अपेक्षा रखते हैं? यही कि हमारा मन बहुत निर्मल बने, हमारा मन पवित्र रहे। हम दूसरे से भी यही अपेक्षा रखते हैं कि दूसरों का भी मन निर्मल रहे, दूसरा हमारे बारे में अच्छा सोचे। जब हम दूसरे से अपेक्षा रखते हैं तब हमें अपने से भी अपेक्षा रखनी चाहिये कि हम भी दूसरे के बारे में अच्छा ही सोचें, हमारा मन दूसरे के बारे में विकृत न हो, विकारी न हो, लेकिन हो जाता है। हम इस पर विचार करें कि कैसे हम अपने मन

को मलिन न होने दें। जो मलिनताएँ हमारे भीतर हैं उन्हें कैसे हटाएँ और कैसे हम अपने जीवन को, अपने मन को, अपनी वाणी को, अपने कर्म को सबको पवित्र बनाएँ !

शुचिता—लोभ का अभाव

'शुचोर्भावो शौचं'

जो आन्तरिक शुचिता या आन्तरिक निर्मलता का भाव है वही शौच धर्म है। कहीं-कहीं पर दस धर्मो के क्रम में सत्य धर्म को पहले ले लिया गया है, इसमें कोई हर्ज़ा नहीं है। अपन कषायों की अपेक्षा से, क्रोध-मान-माया-लोभ की अपेक्षा से आज शौच धर्म के बारे में समझ लेते हैं। सभी धर्म एक ही जगह लेजानेवाले हैं।

लोभ के अभाव में शुचिता आती है। मलिनता का अगर कोई कारण है तो वह है हमारा लोभ। जब अपन पूजा करते हैं तो क्या बोलते हैं-

'मुनिमन सम निर्मल नीर'

हमने निर्मल जल चढ़ाया है, वह निर्मल जल कैसा है? जैसा निर्मल मुनिजनों का मन है। निर्मलता कैसे आती है? लोभ के अभाव में आती है, कषायों के अभाव में आती है। हमें यह समझना है कि हमारे मन में मलिनताएँ किस तरह की हैं? कैसे हम उन मलिनताओं को हटाएँ और आगे कैसे हम उन मलिनताओं को नियन्त्रित करें ? रोजमर्रा के जीवन में अगर देखें तो हमारे भीतर तीन तरह की मलिनताएँ हैं या हमारे भीतर तीन तरह के लोभ हैं। जब चौथी तरह का लोभ जागृत होता है तब अपन ऐसे (धर्मसभा में) बैठ जाते हैं पर ये लोभ बहुत कम जागृत होता है या होता ही नहीं है । ये भी तो लोभ ही है कि दो बातें धर्म की सुनें जिससे मेरी आत्मा का कल्याण होवे, मैं संसार के दुःखों से बच सकूँ! ये लोभ जागृत हुआ तब अपन यहाँ आकर के बैठते हैं! ये लोभ कभी-कभी ही जागृत होता है। वैसे अपन को तीन प्रकार का लोभ तो हमेशा घेरे रहता है-

लोभ के प्रकार

वित्तेषणा - धन-पैसे का लोभ। धन कितना ही बढ़ जाय उतना ही कम मालूम पड़ता है। लोभ के साथ यह दिक्कत है कि जितना लाभ होता है उतना लोभ बढ़ता चला जाता है। ये इसकी अपनी तासीर है, क्या करें ! हमें इस चीज को समझ लेना चाहिये।

गोटेगाँव में एक व्यक्ति मिले थे। वे बतला रहे थे कि - 'हमने पैंसठ रुपये से दुकानदारी शुरू की थी। हमको बँटवारे में इतने ही रुपये मिले थे। फिर हमारे अच्छे कर्म

का उदय आया वे पैंसठ रुपये पहले पैंसठ सौ हुए फिर पैंसठ हजार हो गये। आज पैंसठ लाख हो गये, पर मन में भावना है कि वे बढ़कर पैंसठ करोड़ हो जायें।' वे खुद कह रहे थे कि 'महाराज! पहले धर्मध्यान करने के लिए मेरा बहुत मन करता था, समय भी होता था लेकिन आज मेरे मन में धर्मध्यान करने का भाव थोड़ी देर को आता है पर मेरे पास समय नहीं है। पहले मैं रुपया कमाता था पर अब तो मैं रुपया कमाने की मशीन हो गया हूँ।' उन्हें इस बात का दुःख होने के बावजूद भी अब बहुत मुश्किल है कि वे बच सकें, क्योंकि लोभ की तासीर है कि जैसे-जैसे लाभ बढ़ता है वैसे-वैसे लोभ और बढ़ता जाता है। धन-पैसे का लोभ सबको है। कोई कहे—हमें क्या करना है? तो क्या वह धन छोड़ देगा? इतने पर्यूषण, इतने दशलक्षण तो हो गये, कितने प्रकार से सुना होगा लोभ के बारे में! कितना छूटा? बात केवल इतनी-सी है कि मेरे को जितनी आवश्यकता है उतना रख लूँ उसके अलावा की आसक्ति न रखूँ, क्या इतना काम नहीं कर सकते अपन? या कि मैं उस लोभ की दिशा को बदल दूँ! मैं धर्म-ध्यान में अपना ज्यादा समय लगाऊँ ताकि मैं इस पैसे के लोभ से उतनी देर तो बच सकूँ! हम यहाँ पूजा-प्रवचन में बैठे हैं क्या इतनी देर इस बात का ख्याल आया कि अपने पास करोड़ों रुपये हैं? हाँ, रखे हैं घर में पर अभी तो हमें मतलब नहीं उनसे। इतनी देर के लिए हम उस लोभ से बच सकें! ये उपाय तो हम कर ही सकते हैं!

पुत्रेषणा-लोकेषणा - दूसरा लोभ होता है अपने पुत्र और अपने परिवार का। तीसरा लोभ होता है- समाज में अपनी प्रतिष्ठा का। वित्तेषणा, पुत्रेषणा, लोकेषणा- ये तीन ही प्रकार के लोभ हैं। बस, इन्हीं से सारा संसार बना है। हमें विचार करना चाहिये कि हम इन तीनों को नियन्त्रित कर सकें तो हमारा मन उतना ही उज्ज्वल हो जायेगा, उतना ही निर्मल हो जायेगा। ये तीनों चीजें, इन तीनों का लोभ मेरे मन को मलिन करता है, बस इतना-सा काम करना है, और कोई बड़ी चीज नहीं करनी। मुझे बहुत बड़ी-बड़ी कहानी नहीं सुनानी कि लोभ पाप का बाप बखाना- ये तो सबको मालूम है, क्या होता है सुनने से! किसको नहीं मालूम कि लोभ से सिवा दुर्गति के आज तक और क्या हुआ है? किसको नहीं मालूम? आपको नहीं मालूम क्या? सबको मालूम है- लोभ पूरी की पूरी जिन्दगी नष्ट कर देता है। सबको मालूम है- इससे क्या होने वाला है? इससे कुछ काम नहीं बनने वाला। काम तो इससे बनने वाला है कि मैं लोभ को किस तरह से नियन्त्रित करूँ? मैं लोभ को कैसे जीत सकूँ? मेरे जीवन में यह संस्कार अनादिकाल का है कि जो चीज दिखाई पड़ती है उसी को ग्रहण करने का भाव मेरे अन्दर उत्पन्न हो जाता है, उस स्थिति में मैं क्या करूँ? जब कि वह चीज मेरे ज्यादा काम की नहीं है, उल्टे वह

मेरे अहित में कारण बनेगी, इतना भी जानता हूँ मैं; फिर जान-बूझकर कैसे अंधा हो जाता हूँ मैं? इस पर विचार करें। जिन लोगों ने लोभ किया है उनकी क्या दुर्गति हो रही है अभी! कौन देखने जायेगा अगला जीवन! अभी वर्तमान में हो रही है वह सबको दिखाई पड़ता है। पहले घर में एक गाड़ी थी, बाहर खड़ी रहती थी, ज्यादा चिन्ता नहीं थी। अब एक बड़ी गाड़ी और लेकर आये हैं। जब तक गैरेज नहीं बनता तब तक वह बाहर ही खड़ी है, तो रात में जब-जब नींद खुलती है, दो बार-तीन बार, तब-तब बालकनी से झाँककर देखना पड़ता है कि खड़ी है कि नहीं खड़ी? एक आफत हो गई, सोच तो रहे थे कि आसानी हो जायेगी पर ये तो एक आफत मोल ले ली! क्या ऐसा समझ में नहीं आता अपन को? आता है। जब घर में चार चीजें थीं तो शांति से उनमें ही जीवन चलता था और अब चार सौ है तो भी मन शांत नहीं है। इसके बाद भी मन अशान्त है। इसके मायने है कि मुझे इन चीजों को नियन्त्रित कर लेना चाहिये, ये बात अपने मन में स्वयं आ जानी चाहिये।

लोभ की तासीर ही यह है कि आशाएँ बढ़ती हैं, आश्वासन मिलते हैं और हाथ कुछ नहीं आता। एक उदाहरण है- एक व्यक्ति को किसी देवता ने प्रसन्न होकर एक शंख दे दिया। उस शंख की तासीर थी कि नहा-धोकर शंख को फूंको, फिर उसके सामने जितनी इच्छा करो उतना मिल जाता था। उसको तो बड़ा मज़ा हो गया। बस, नहा-धोकर शंख फूंका और आकांक्षा की कि हजार रुपये, तो हजार रुपये मिल गये। एक दिन बाजूवाले ने देख लिया। बस, गड़बड़ यहीं से शुरू होती है कि बाजूवाला अपन को देखे या अपन बाजूवाले को देखें । बाजूवाले ने सोचा कि यह शंख तो अपने पास होना चाहिये। जो-जो अपने पास है वह नहीं दिखता, जो दूसरे के पास है हमें वह दिखता है। जो अपने पास है वह दूसरे को दिखता है। सीधा-सा गणित है- जो अपने पास है वह दिखने लगे तो सारा लोभ नियन्त्रित हो जाय। नहीं, सारे संसार में जो चीजें हैं वे सब आसानी से दिखाई पड़ती है पर मैंने क्या हासिल किया- मुझे ये दिखाई नहीं पड़ता। और एक असन्तोष मन के अन्दर निरन्तर बढ़ता ही चला जाता है। व्यक्तिगत असन्तोष, पारिवारिक असन्तोष, सामाजिक असन्तोष- कितने तरह के असन्तोष हमारे जीवन को इतनी-सी बात से घेर लेते हैं कि मैं मेरे पास जो है उसे नहीं देखता हूँ, दूसरे के पास जो है वह दिखाई देता है मुझे। क्या करें ? दूसरे के पास क्या है - इससे आँखें मींच लें क्या? नहीं भैया! दूसरों के पास जो है वह उसमें खुश है- ऐसा मानकर के जो अपने पास है उसमें आनन्द लें बस! इतना तो कर सकते हैं? नहीं कर सकते? आहार की प्रक्रिया में मैं रोज देखता हूँ कि किसी को एक ग्रास देने को मिल जाता है तो पहले तो उसको

आनन्द आता है, लेकिन जैसे ही देखता है कि दूसरे को दो ग्रास देने को मिल गये, बस- सारा आनन्द खत्म! जबकि उसे भी एक ग्रास देने का मौका मिला है पर उसका आनन्द नहीं है उसको, तब तक तो था जब तक दूसरे को दो ग्रास का मौका नहीं मिला था। बड़ा आश्चर्य होता है, अपन ने कैसी आदत बना ली अपनी! इसको थोड़ा नियन्त्रित करें। अपन आनन्द लें उस चीज में जो अपने को प्राप्त है। हाँ तो, बाजूवाले ने देखा कि इसके पास बढ़िया शंख है तो उसने भी एक बाबाजी से शंख ले लिया। पर उस शंख से मिलता कुछ नहीं था, उस के सामने जितना माँगो वह उससे दुगना देने को बोलता था। उसने पड़ौसी से कहा- 'सुनो! मुझे भी एक बाबाजी ने शंख दिया है।'

'कैसा शंख?' पड़ौसी ने पूछा।

'उससे जितना माँगो उसका दुगुना मिलता है।'

'दुगुना! मेरे पास तो जो है उससे जितना माँगो उतना ही मिलता है।'

'ऐसा करें, बदल लें आपस में?'

'हाँ- हाँ, ऐसा ही करें।' पड़ौसी ने कहा।

बस, हो गया काम! बदल दिया और दुगुनेवाला ले लिया।

मन में खुश! सवेरे उठे, जल्दी-जल्दी नहाया-धोया, और फिर शंख फूँका। कहा- 'एक लाख रुपये दो।'

शंख में से आवाज आई- 'एक लाख क्यों? दो लो न दो।'

लेकिन आया एक भी नहीं।

अरे! पुरानेवाले में तो जितना माँगो उतना ही मिल जाता था, पर इसमें से केवल आवाज आई कि एक क्यों, दो लो न दो, पर आया कुछ नहीं। तो उसने कहा- 'तुम देते क्यों नहीं? दो लाख दो।'

शंख में से फिर आवाज आई- 'दो क्यों! चार लो न चार।'

अब समझ में आ गई, जितना माँगते चले जाते हैं आश्वासन मिलता है उससे दुगुने का पर हाथ में कुछ भी नहीं आता।

संसार में हमारी जितनी पाने की आकांक्षा है वह हमें सिर्फ आश्वासन देती है, मिलता-विलता कुछ नहीं है। जो हमने पाया है अगर उसमें हम सन्तोष रख लेवें तो संसार में फिर ऐसा कुछ नहीं है जो पाने को शेष रह जाय। पाते काहे के लिए हैं? आत्म-संतोष के लिए। पर आत्म-संतोष नहीं मिला और दुनियाभर की सारी चीजें मिल गईं।

आज हमने बहुत सारे बच्चों से बात की, बहुत रिच फैमिली (धनी परिवार) के,

अच्छे हाल। मेरे पास एक ही प्रश्न पूछते हैं कि कैसे सैल्फ सैटिसफैक्शन गेन (आत्म-संतोष प्राप्त) करें ? कैसे मिले आत्म-संतोष? हमारी फैमिली (परिवार) बहुत रिच (धनवान) है, हमारा एजूकेशन (शिक्षा) भी बहुत हाई (ऊँची) है, इसके बावजूद ये सारी उपलब्धियाँ व्यर्थ हैं अगर आत्म-सन्तोष नहीं है।

पहली चीज है कि जो हमारे पास है उसे देखें। वर्तमान में ये भी प्रचलित हो गया है कि यदि हम सन्तोष धारण कर लेंगे तो हमारी प्रगति रुक जायेगी। लेकिन ऐसा नहीं है। अगर हमें जो प्राप्त है हम उसमें सन्तुष्ट होंगे और जो हमें प्राप्त नहीं है उसके लिए सद्प्रयास करेंगे तो हमारी प्रगति नहीं रुकेगी।

टॉलस्टॉय ने एक कहानी लिखी है, बहुत प्रसिद्ध है- 'हाउ मच लैण्ड डज ए मैन रिक्वायर' ? बहुत प्रसिद्ध कथा है, हिन्दी में भी ट्रान्सलेट (अनुवाद) किया है उसका, आपने भी पढ़ी होगी-

एक व्यक्ति को किसी ने वरदान दिया कि तुम एक दिन सुबह सूरज उगने से लेकर अस्त होने तक जितनी दूरी तय कर वापस लौटोगे उतनी जगह/ज़मीन तुम्हारी हो जायेगी- जाओ तुम्हें वरदान देता हूँ। तो उसने सूरज की पहली किरण के साथ दौड़ना शुरू किया और बेतहाशा दौड़ता रहा, दौड़ता रहा। जहाँ से प्रारम्भ किया था वहीं पर लौटना था शाम ढलने से पहले। जहाँ लाइन खींची थी (जहाँ से प्रारम्भ किया था) उससे मुश्किल से दो-चार क़दम पहले वह इतना थक गया कि निढाल होकर गिर पड़ा। गिरा तो फिर उठ नहीं सका। वहीं प्राणान्त हो गया उसका। उसकी क़ब्र पर लिखा गया कि - 'हाउ मच लैण्ड डज ए मैन रिक्वायर' (एक व्यक्ति को कितनी ज़मीन अपेक्षित है?)

कितना चाहिये उसको और कितना है? आखिरी समय इतनी ही (दो गज) ज़मीन तो चाहिये जब कि वह इस बात के लिए इतना भागता रहा कि उसे सब कुछ मिल जाय लेकिन चाहिये कितना-सा! हमें ये ध्यान में आ जाये कि चाहिये कितना-सा और हम जो प्राप्त करें उसमें आनन्द लें तो हमारे जीवन में निर्मलता आये बिना नहीं रहेगी।

जीवन में निर्मलता

निर्मलता क्या चीज है? निर्मलता के मायने है- जीवन का चमकीला होना। निर्मलता के मायने है- मन का भीगा होना। निर्मलता के मायने है- जीवन का शुद्ध होना। निर्मलता के मायने है- जीवन का सारगर्भित होना। निर्मलता के मायने हैं- जीवन का निखालिस होना। इतने सारे मायने हैं पवित्रता के, निर्मलता के। एक-एक को समझ

लें, छोटे-छोटे उदाहरण से समझ लें तो बात समझ में आ जायेगी कि निर्मल किस तरह होगा! जब निर्मल होता है तो कितना आनन्द आता है। जब मुझे मलिनताएँ घेरने लगें तो मैं उन्हें नियन्त्रित करूँ- इतना ही करना है हमें। दिनभर में कितने ही मौके आयेंगे जब मुझे लोभ घेरेगा पर मुझे अपने जीवन को चमकीला बनाना है। जीवन कैसे बनता है चमकीला?

सन्त एकनाथ के बारे में मालूम होगा सबको। वे नदी से नहाकर लौट रहे थे, रास्ते में ऊपर से किसी ने उन पर थूक दिया। एकनाथ कुछ न बोले। चुपचाप दोबारा नहाने को चले गये। लौटे तो फिर उसने थूक दिया। एकनाथ चुपचाप फिर नहाकर आ गये। उस व्यक्ति ने फिर थूक दिया। ऐसा सौ दफ़े हुआ। अपने साथ एक-आध दफ़े भी हो जाये तो अपने मन के साथ क्या गुज़रती? कितना जल्दी मलिन हो जाता हमारा मन, हो जाता कि नहीं ! हो जाता। विचार करना है अपने को। किसी ने जरा-सी कोई बात कह दी कि बस! कई बार तो ऐसे लगने लगता है कि अपन चाबी के खिलौने न हों कि जैसी जितनी चाबी भरी उतने ही चलने लगे। जैसे ही किसी ने कोई खराब बात कह दी, मन गन्दा हो गया; किसी ने जरा-सी अपनी मन की बात कह दी मन प्रसन्न हो गया, मानो हम दूसरों की भरी हुई चाबी के अनुसार अपना जीवन जीते हैं। क्या ऐसा है? विचार करना चाहिये। एकनाथ फिर भी बिल्कुल शान्त रहे, सौ दफ़े स्नान किया उन्होंने। जिसने थूका था अब उसे तक़लीफ होने लगी। वह एकनाथ से क्षमा माँगने लगा- 'बहुत गलती हो गई, मुझे क्षमा करें।'

'नहीं-नहीं ! मैं तो तुम्हें धन्यवाद देने वाला था। मैं तो एक ही बार नहाता, फिर इतनी निर्मलता नहीं आती। तुम्हारी वजह से मुझे सौ बार नहाने को मिला। और इतना ही नहीं, मैंने आज समझ लिया कि कोई कितना भी करे मेरा मन कलुषित नहीं होगा, मलिन नहीं होगा, ऐसा चमकीला बना रहेगा।' एकनाथ ने कहा।

क्या हम अपने मन को इस तरह मलिनता से बचाकर चमकीला बनाये रख सकते हैं? दिनभर में ऐसे सैंकड़ों अवसर आते हैं, मानिए एक-आध किसी अवसर पर ही सही, सौ अवसरों पर नहीं, एक अवसर पर तो मन को मलिन नहीं होने दिया, चमकीला बनाये रखा- ऐसा हम कर सकते हैं?

मन भीगना

मन का भीग जाना क्या है? इससे भी हमारा मन निर्मल होता है। जितना भीग जाता है उतना निर्मल होता है हमारा मन। जैनेन्द्रकुमार के जीवन का एक उदाहरण है।

जानते हैं जैनेन्द्रकुमार कौन थे? बहुत बड़े साहित्यकार थे। अब यंग जॅनरेशन (युवा पीढ़ी) तो उनको मुश्किल ही जानती होगी! वे अपने नाम के साथ जैन नहीं लगाते थे, बंद कर दिया था उन्होंने जैन लिखना। फिर भी उन्होंने जीवनभर धर्म को जिया। जीवन के आखिरी समय जब वे पैरालाइज (लकवे से ग्रस्त) हो गये, बोलना भी उनको मुश्किल हो गया तब जो भी उनके पास आता उसे देखकर उनकी आँखों से आँसू गिर जाते, इससे मालूम हो जाता था कि पहचान लिया, इतना ही नहीं अपनी भावनाएँ भी व्यक्त कर दी हैं। उनको बोलने में बहुत तकलीफ होती थी, गले में बहुत अधिक कफ़ संचित हो गया था- ऐसा बताते हैं। डॉक्टर ने कहा कि अब ठीक होने के कोई चांसेज (उम्मीद) नहीं हैं, बस अब अपने भगवान को याद करो। तब पहली बार उनको लगा कि जीवन में भगवान की कितनी जरूरत है! उन्होंने णमोकार मन्त्र पढा। अपने जीवन के अन्तिम संस्मरण में लिखा उन्होंने कि 'मैं णमोकार मन्त्र पढता जाता था और रोता जाता था। आधा घण्टे तक णमोकार मन्त्र पढ़ते-पढ़ते खूब जी भर के रो लिया। जब डॉक्टर दूसरी बार उनका चैक-अप (जाँच) करने आया तो उन्होंने पूछा- 'मिस्टर जैन! आपने अभी थोड़ी देर पहले कौनसी मेडिसिन (दवाई) खाई है?' नर्सेज से पूछा कि 'इनको कौनसी मेडिसिन (दवाई) दी गई है?'

नर्सेज ने कहा कि 'अभी कोई दवा नहीं दी गई। हाँ, आपने कहा था- अपने ईश्वर को याद करो, इन्होंने वही किया है अभी।'

उन्होंने अपने संस्मरण में लिखा कि 'मुझे बार-बार यही लगता था कि मैंने जीवनभर ऐसे निर्मल परिणाम के साथ भगवान को याद क्यों नहीं किया? अब मृत्यु के निकट समय में अपने भगवान को याद कर रहा हूँ तो मुझे अपने पूरे जीवन पर रोना आया और मन भीग गया।' ये है मन का भीगना, ये भी निर्मलता लाता है।

एक और घटना है जिससे मालूम पड़ेगा कि हमारा मन कैसे भीगता है? जितना भीगता है उतना निर्मल होता जाता है, जितना निर्मल होता है उतना भीगता जाता है। आज ऐसे अवसर कम आते हैं। अगर किसी की आँख भर जाये तो वह कमजोर माना जाता है। आज कोई रोने लगे तो बिल्कुल बुद्धु माना जाये। आज अगर मन भीग जाये तो हम बहुत आउट ऑफ डेट (बहुत पुराना, असामयिक) माने जायें। बहुत कठोर हो गये हैं हम, हमारी निर्मलता हमारे कठोर मन से गायब हो गई। जबकि हमारा मन इतना निर्मल होना चाहिए था कि दूसरों के दुःख को, संसार के दुःखों को देखकर द्रवित हो जाये उसमें डूब जाये।

एक आदमी रोज एक निश्चित रास्ते से निकलता था। उस पर एक दूसरा आदमी

रोज ऊपर से कचरा डाल देता। बड़ी मुश्किल, रोज का काम हो गया यह। फिर भी वह आदमी कचरा डालनेवाले को कुछ नहीं कहता, सोचता कि 'कचरा शरीर पर गिरा है, मन को क्यों गन्दा करें ? शरीर ही तो गन्दा हुआ है, इससे क्या फ़र्क पड़ता है!' ऐसा सोचकर वह आगे बढ़ जाता। एक दिन वह उसी रास्ते से होकर निकला पर ऊपर से कचरा नहीं आया। उस आदमी ने ऊपर देखा - 'क्या बात है! आज कचरा क्यों नहीं फेंका गया!' ऊपर कोई नहीं था। दूसरे दिन भी कचरा नहीं फेंका गया। उस आदमी ने आस-पासवालों से पूछताछ की - 'वह कचरा फेंकनेवाला व्यक्ति क्या कहीं बाहर गया है?' देखिये, यदि इस जगह हम और आप होते तो शुरू में ही कचरा न फेंका जाय इसका इन्तजाम कर देते। लेकिन उस आदमी की निर्मलता देखियेगा कि कचरा गिरने पर भी उस व्यक्ति के प्रति मन मलिन नहीं किया, परिणाम नहीं बिगाड़े बल्कि पूछ रहे हैं कि 'कहीं बाहर गये हैं क्या ?' उनके दरवाजे को धक्का दिया, अटका हुआ था - खुल गया। वह सीढ़ी चढ़कर ऊपर पहुँचा। देखा - जो व्यक्ति रोज कचरा फेंकता था वह बीमार पड़ा है, बिस्तर पर है। वह वहीं बैठ गया और उस बीमार व्यक्ति के स्वास्थ्य-लाभ के लिए प्रार्थना करने लगा। वह बीमार व्यक्ति चुपचाप देखता रहा कि यह वही व्यक्ति है जिस पर मैं रोज कचरा फेंकता था और यही व्यक्ति मेरे स्वास्थ्य-लाभ के लिए प्रार्थना कर रहा है! उस बीमार व्यक्ति (कचरा फेंकनेवाले) का मन भीग गया। कल तक जिस पर कचरा फेंकता था आज उसी के चरणों में आँसू बहाये। ये क्या चीज है ? ये मन की निर्मलता है जो दूसरे के मन को भी भिगो देती है। स्वयं का मन तो भीगता ही है, दूसरे का मन भी हमारे मन की निर्मलता से प्रभावित होता है। इसी को कहते हैं मन शुद्ध हो गया। क्या मन की ऐसी निर्मलता हमें नहीं पानी चाहिए ?

विनोबा हमेशा कहा करते थे कि मैं अपने कमरे को अपने हाथ से झाड़ता हूँ और झाड़कर वह कपड़ा (झाड़न) रोज इसलिए फेंकता हूँ ताकि मुझे ध्यान रहे कि जैसे मैं गन्दे कमरे में बैठना पसन्द नहीं करता वैसे ही मेरे भगवान मेरे मन की गन्दगी रहने पर मेरे भीतर बैठना क्यों पसन्द करेंगे ? हम भगवान को तो अपने अन्दर बैठाना चाहते हैं लेकिन मन को मलिन ही बनाये रखना चाहते हैं! क्या ऐसे में भगवान विराजेंगे! शुद्ध मन में ही विराजते हैं भगवान। वे कहीं और से नहीं आते, वे तो अन्दर ही विराजते हैं। जितना मन शुद्ध हो जाता है उतने हमारे भीतर प्रकट हो जाते हैं। हमारा उतना परमात्मस्वरूप प्रकट हो जाता है। जितनी मलिनता हटती जाती है उतनी निर्मलता-स्वच्छता आती जाती है।

सारगर्भित होना

और चौथा है - निख़ालिस होना, सारगर्भित होना। ये व्यक्ति कितना निख़ालिस है, कितना सारगर्भित है, इसमें कोई मिलावट नहीं है - इसे हम कैसे समझें ? हम हमारे जीवन में जो योग्य चीजें हैं उन्हें तो करते ही हैं पर बहुत सारी चीजें वे भी करते हैं जो आवश्यक नहीं है। हम अपने पास वे सब चीजें रखते हैं जिनसे हमारा कल्याण होता है या बहुत सारी चीजें वे भी रख लेते हैं जिनसे हमारा कल्याण नहीं होता। देखिये, विचार करें कि जो सारगर्भित नहीं है उसे हम हटाते हैं या अपने पास रखते चले जाते हैं ? निख़ालिस यानी मलिनता का टिकाव न करना। अपन रोज-रोज अपने मन को, अपनी वाणी को, शरीर को मलिन बनानेवाली चीजों को इकट्ठा करते हैं तो हम कैसे सारगर्भित व्यक्तित्व/जीवन को प्राप्त कर पायेंगे ? अपनी आवश्यकता को पहचानें। वर्णीजी हमेशा कहा करते थे - 'भैया ! और कोई व्रत लो न लो पर अपने परिग्रह का परिमाण कर लो, अपनी इच्छाओं की मर्यादा निर्धारित कर लो।' दस करोड़, बीस करोड़, दस अरब, बीस अरब, हजार-दो हजार, पाँच हजार अरब कितना रखना है ? एक कोई सीमा तो हो - जिसके बाद उन चीजों से मैं मेरा लोभ घटा लूँ, लोभ को नियन्त्रित कर लूँ। लोभ को नियंत्रित करने का एक ही उपाय है कि मैं देखूँ - मेरे लिए क्या आवश्यक है ? उतना ही रखूँ। उससे अधिक रखने की आकांक्षा न रखूँ। बाकी सब चीजों में मैं संतोष धारण करूँ।

ये छोटी-छोटी घटनाएँ हैं जिनसे मालूम पड़ेगा कि हम अपने जीवन को संतोषपूर्वक कैसे जी सकते हैं ? कैसे हम अपने जीवन को सारगर्भित बना सकते हैं ? कैसे निर्मल बना सकते हैं ?

श्रीमद् रायचन्द के जीवन का एक घटना है, आप लोगों की सुनी हुई होगी पर फिर से रिवाइज (पुनरावृत्ति) हो जाएगी कि हमारा मन कैसे सारगर्भित व निख़ालिस हो सकता है, कैसे निर्मल हो सकता है - श्रीमद् रायचन्द ने जवाहरात का एक सौदा किया। सौदा तय करने के बाद उनकी कीमत बढ़ गई। कीमत बढ़ी भी इतनी कि उस पर चुकारा हो तो सामनेवाले का तो दिवाला निकल जायेगा। जिस व्यक्ति से सौदा हुआ था वह व्यक्ति डर के मारे घर से बाहर नहीं निकला, उसने आठ दिनों तक श्रीमद् जी को अपनी सूरत नहीं दिखाई। वे समझ रहे थे उसकी परेशानी। वे जानते थे कि वह बहुत दुःखी है। कैसे चुकायेगा वह यह कीमत ? उसकी सारी सम्पत्ति बिक जाये, मकान बिक जाये तब भी वह उस माल की कीमत नहीं चुका पायेगा। एक दिन रायचन्द जी स्वयं उनके घर

चले गये। दरवाजा खटखटाया। उसी व्यक्ति ने आकर दरवाजा खोला। सामने रायचन्द जी को देखकर वह व्यक्ति घबरा गया और बोला - 'आप काहे को आये ! विश्वास कीजिए, मैं आपका पूरा पैसा चुका दूँगा।'

रायचन्द जी ने कहा - 'इतना भी नहीं कह रहे कि आओ बैठो ! बैठाओ तो सही कम से कम।' और स्वयं अन्दर जाकर बैठ गये। उन्होंने वह कागज माँगा जिस पर सौदा तय किया था - 'दिखाना तो वह कागज।'

उस व्यक्ति ने वह कागज लाकर सौंप दिया। रायचन्द जी ने वह कागज हाथ में लेकर कहा - 'सिर्फ इस कागज पर लिखे गये सौदे की वजह से तुमने अपने मन को मलिन कर लिया! केवल इस कागज की वजह से!' और उन्होंने उस कागज के टुकड़े-टुकड़े कर दिये, फाड़ दिया वह कागज और इतना ही कहा कि -'रायचन्द जैन है। वह दूध पीना जानता है, वह किसी का खून पीना नहीं जानता।'

ये क्या चीज है ? ये आत्मसंतोष है, ये व्यक्तित्व की सारगर्भिता है। यह व्यक्तित्व निख़ालिस है, यह व्यक्तित्व निर्मल है, हम ऐसे व्यक्तित्व का सम्मान करते हैं, ऐसे व्यक्तित्व की इज्जत करते हैं।

क्या हम अपने जीवन को ऐसा ही इज्जतदार, सम्मानजनक बनाना पसन्द नहीं करेंगे ? जरूर करेंगे। ऐसे मौके आने पर ही हमारे जीवन की परीक्षा है कि सचमुच हमारा मन कितना निख़ालिस है ? हमने अपने जीवन को कितना निर्मल और पवित्र बनाया है! हमारे जीवन में तो रोज-रोज ऐसे अवसर आते हैं जबकि हम चाहें तो अपने मन को निर्मल बना सकते हैं पर हम हमेशा गन्दा बना लेते हैं और वह भी दूसरों की वजह से ! हमें इस बात का विचार करना चाहिए।

अब एक घटना और बताता हूँ। घटनाएँ हमारे जीवन को बहुत अच्छा मैसेज (संदेश, शिक्षा) देती हैं। याद रह जायें तो। इसमें समझने की बात केवल इतनी-सी है कि आन्तरिक निर्मलता बनी रहे, मन की निर्मलता बनी रहे, यही धर्म है। शरीर की निर्मलता के तो बहुत उपाय हमने किये हैं। अब आने वाले दिनों में मन को गंदा न करें, उसे मलिन न होने दें। अगर मलिन हो जाये तो उसे हम कैसे निर्मल बनायें - इस पर विचार करें, रोज-रोज विचार करें। मैं सोचता हूँ इन चारों कषायों के लिए अपन दिनभर में एक-एक मौका दें कि क्रोध का मौका आयेगा तो एक मौके पर मैं क्षमा धारण करूँगा, हो सकता है कि अन्य सौ मौकों पर मैं गुस्सा करूँ ! लेकिन दिन भर में एक मौका नहीं चूकूँगा, किसी के क्रोध दिलाये जाने पर भी मैं क्षमाभाव धारण करूँगा! कभी कोई कठोर होने की बात आयेगी मैं अपनी कोमलता, अपनी मृदुता को बरकरार रखूँगा,

दिनभर में कम से कम एक मौके पर तो अवश्य ही। जब कभी मेरे जीवन या दूसरों के जीवन में कोई कठिनाई, मुश्किल, उलझन आ जायेगी तो दिन भर में एक मुश्किल को जरूर आसान बनाऊँगा। अपने जीवन को भी, अपनी उलझनों को भी सुलझाऊँगा और दूसरों के जीवन में भी अगर कोई मुश्किल आई है तो उसे आसान बनाऊँगा। इतना सरल होकर उसके सामने पेश हो जाऊँगा कि उसकी मुसीबत आसान हो जाये। दिनभर में ऐसे एक अवसर पर अवश्य ही ऐसा करूँगा जिससे मेरा मन भी ऐसा ही चमकीला हो जाय, ऐसे ही भीग जाये। एक अवसर अवश्य ढूंढूंगा जिससे कि मेरा मन निर्मल हो जाये और लगे कि आज मैंने कुछ अचीव (सफलता प्राप्त) किया, आज मैंने कुछ पाया।

यह उदाहरण एक डॉक्टर का है। एक गरीब व्यक्ति डॉक्टर की क्लिनिक पर गया। उसका बेटा बीमार था। सच्ची घटना है यह इन्दौर के पास की। डॉक्टर उस समय बहुत व्यस्त था। इसलिए उसने उस गरीब व्यक्ति से कहा - 'तुम घर जाओ। इतने पेशेंट्स (मरीज, रोगी) बैठे हैं, मैं इन्हें निपटा दूँ, फिर मैं स्वयं आ जाऊँगा, चिन्तित मत होवो, जाओ।'

उस व्यक्ति के पास डॉक्टर की फीस देने के लिए भी पैसे नहीं थे। डॉक्टर की फीस थी दो सौ रुपये। वह तो दवा के लिए भी पड़ौसी से पचास रुपये माँगकर लाया था। उसने सोचा था डॉक्टर साहब हाल सुनकर दवा दे देंगे। पर डॉक्टर ने तो स्वयं आकर देखने की बात कर दी। डॉक्टर ने अच्छा बिहेव (व्यवहार) किया तो उसे भी आशा हो गई और सोचा - ठीक है, डॉक्टर साहब आयेंगे तो ये रुपये (पचास रुपये) तो दे दूँगा और बाकी के लिए रिकवेस्ट (अनुरोध) कर दूँगा कि बाद में चुका दूँगा। ऐसा मन बनाकर वह घर लौट आया।

डॉक्टर को पेशेन्ट्स (मरीजों) को देखने में समय लग गया। फिर उनका ड्राइवर नहीं आया तो वे रिक्शा लेकर उस व्यक्ति के घर पहुँचे। रिक्शा बाहर रोककर वे अन्दर गये। वहाँ जाकर मरीज को देखा - वह तो जा चुका था। डॉक्टर लेट हो चुके थे। उन्होंने बहुत दुःखी मन से उसके पिता को कहा कि 'मैं तुम्हारे बेटे को बचा नहीं पाया। मुझे ऐसा मालूम नहीं था कि तबियत इतनी खराब है ! नहीं तो मैं दस मिनिट पहले आ जाता, उन पेशेन्ट्स (मरीजों) को मैं बाद में देख लेता!' वह डॉक्टर बहुत अफसोस प्रकट कर रहा था। किसी डॉक्टर का इस प्रकार कहना बहुत मुश्किल है।

वह व्यक्ति डॉक्टर को फीस के रूप में पचास रुपये देने लगा। डॉक्टर ने कहा - 'मैं तो कुछ कर ही नहीं पाया, ये रुपये किस बात के ?'

वह व्यक्ति बोला - 'आपको इतनी दूर आना पड़ा।'

'मैं नहीं लूँगा।' डॉक्टर ने कहा और उन्होंने रुपये नहीं लिये। यह बात बाहर खड़े रिक्शेवाले को भी मालूम पड़ गई और उस पड़ौसी को भी पता लग गई जिससे पचास रुपये उधार लिये गये थे कि डॉक्टर साहब ने फीस के रुपये नहीं लिये।

कितना प्रभाव पड़ता है एक व्यक्ति के मन की निर्मलता का दूसरे व्यक्ति के लोभ को घटाने में! और एक व्यक्ति का बढ़ता हुआ लोभ दूसरे व्यक्ति को भी कितना लोभी बना सकता है - ये हम अपने जीवन में झाँककर देख सकते हैं, अनुभव कर सकते हैं। ऐसा न समझें कि हमारी मलिनता दूसरे को प्रभावित नहीं करती और दूसरे की उज्ज्वलता अन्य लोगों को प्रभावित नहीं करती। ये बात अलग है कि मलिनताएँ बहुत जल्दी प्रभावित करती हैं और उज्ज्वलता बहुत देर से प्रभावित करती है। किन्तु उज्ज्वलता/निर्मलता भी प्रभावित किये बिना नहीं रहती।

जब पड़ौसी ने सुना कि डॉक्टर ने अपनी फीस के रुपये नहीं लिये हैं तो उसने भी अपने पचास रुपये वापस लेने से इंकार कर दिया - 'जब डॉक्टर ने फीस के रुपये नहीं लिये तो मैं भी वे पचास रुपये वापस नहीं लूँगा। तुम्हारा बेटा नहीं रहा। अभी तुम्हें उसका अन्तिम संस्कार करना है, ये रुपये रख लो काम आयेंगे।'

ठीक है, उस डॉक्टर के पास पैसा था, उसने नहीं लिए रुपये। पड़ौसी के पास भी पैसा था, उसने भी नहीं लिये रुपये वापस। पर अपन जरा आगे बढ़ें - उधर रिक्शे में से नीचे उतरकर डॉक्टर रिक्शेवाले को उसकी मजदूरी देने लगे तो रिक्शेवाले ने हाथ जोड़ लिये - 'मुझे भी नहीं लेने रुपये।'

डॉक्टर ने कहा - 'अरे ! मेरे पास तो बहुत पैसा है। मैंने नहीं लिये तो कोई बात नहीं। तुम अगर ऐसे नहीं लोगे तो तुम्हारा काम कैसे चलेगा ?'

'डॉक्टर साहब ! आपके पास पैसे भी बहुत हैं और मानवता भी बहुत है। मेरे पास पैसे बहुत कम हैं पर थोड़ी-सी मानवता तो मेरे अन्दर भी है! मेरी मानवता को बने रहने दीजिए।'

क्या इस तरह की मन की निर्मलता दिनभर में एक-आध अवसर पर अपने जीवन में नहीं आ सकती ? ऐसे अवसर अपने जीवन में बहुत आते हैं लेकिन ऐसे अवसरों का अपन लाभ ले लें तो लोभ को नियन्त्रित करानेवाला, आन्तरिक निर्मलता को हासिल करानेवाला ये धर्म हमारे जीवन में जरूर आयेगा। हमारा जीवन निर्मल बनेगा। इसी भावना के साथ कि हम अपने जीवन को निर्मल बनाएँ-

गुरुवर आचार्य विद्यासागर जी महाराज की जय !

❑❑❑

उत्तम सत्य

- ❑ जिसका मन जितना सच्चा होगा उसका जीवन भी उतना ही सच्चा होगा।
- ❑ जीवन उन्हीं का सच बनता है जो कषायों से मुक्त हो जाते हैं।

हम सभी लोगों ने पिछले दिनों अपने जीवन को अच्छा बनाने के लिए इस दशलक्षण महापर्व के अवसर पर चार बातें सीखीं हैं। जीवन में रोज गुस्सा करने के, क्रोध करने के अवसर आते हैं यदि उनमें पूरी तरह से, हर मौके पर क्षमाभाव धारण करें तो बहुत अच्छा है। ऐसा नहीं कर पाते हैं तो एक-आध मौके पर तो क्षमाभाव धारण करना ही चाहिए। एक-आध मौके पर तो करके देखना चाहिए कि कैसा लगता है!

हमने पिछले दिनों यह भी सोचा कि हम अपने आस-पास के वातावरण को लेकर या आस-पास के लोगों के व्यवहार को लेकर कभी-कभी कठोर हो जाते हैं। बड़ी कठोरता से पेश आते हैं हम। हमारा ये व्यवहार ठीक नहीं। दिनभर में एक मौके पर हमारी कोमलता, हमारी मृदुता बनायी रखनी चाहिए, ऐसा प्रयास करना चाहिए कि हम कठोर न हो पायें।

हमने यह भी विचार किया कि यदि ऐसी परिस्थिति निर्मित हो जाती है या कि हमारे मन का संस्कार इतना प्रबल हो जाता है कि पता नहीं क्या सोचकर हम दूसरे को ठगने का मन बना लेते हैं और कई बार तो धोखा दे भी देते हैं और फिर मन ही मन बड़े खुश भी होते हैं। पर अब ऐसा नहीं करेंगे। दूसरे को धोखा देने का मन कभी हो भी जाये तो हम थोड़ा अपने को सम्हाल लेंगे। यदि किसी को हमारे हाथ से धोखा दिया गया है तो कम से कम बाद में प्रसन्नता का अनुभव तो नहीं करेंगे, बल्कि गिल्टी फील (अपराध अनुभव) करेंगे और आगे कभी धोखा नहीं देंगे - ऐसा मन बनायेंगे, क्योंकि संस्कारवश कई बार ऐसा भाव आ भी जाता है तो दूसरों को धोखा देने के बाद प्रसन्नता महसूस न करें - इतना तो कर ही सकते हैं! नहीं तो यह आदत बढ़ती ही जायेगी। जबकि हमने

तो अपनी सरलता को बनाये रखने का, अपनी ईमानदारी को बरकरार रखने का विचार किया है।

इतना ही नहीं, हमारे चारों तरफ अनेक आकर्षण हैं, पाँचों इन्द्रियों और मन को लुभानेवाली अनेक चीजें हैं। हमारे मन में उन चीजों को लेकर बहुत जल्दी लोभ जाग जाता है। तब हम क्या करें ? लोभ जागृत हो तो क्या करें ? कुछ चीजों को अपना बजट कम होने के कारण ग्रहण नहीं कर पाते या कोई चीज खाने का बहुत मन हो जाता है पर शरीर साथ नहीं देता - बीमारीवश, डॉक्टर के कहने पर तो छोड़ना पड़ता है तो क्यों न हम उसे अपने मन से ही निकाल दें ? उसके प्रति अपने मन में लोभ ही न रखें, उस चीज को लेकर मन को विकृत न करें। कोई चीज नहीं मिल पाई तो उसके अभाव में हमारा मन संक्लेशित होता है, मलिन होता है। जो चीज हमें जीवन में मिल गई है उसका आनन्द नहीं ले पाते हम। हमने पहले पुण्य कमाया है उससे हमें यह मनुष्य पर्याय मिली है, दो बातें धर्म की सुनने का सौभाग्य मिला है, धर्म की इन बातों के अनुसार अपने जीवन को बनाने का मन भी कई-कई बार हुआ है - ये भी सौभाग्य है। इन चीजों पर हमें गर्व होना चाहिए, गौरव होना चाहिए कि इतना तो मिला हमें! मान लीजिए एक आँख कम मिलती तो कैसा लगता ? दोनों आँखें मिली हैं - अब इससे ज्यादा और क्या चाहिए अपन को ? ठीक है आँख पर लगाने का बढ़िया गोल्डन (सुनहरी) चश्मा नहीं मिला। नहीं मिला तो नहीं मिला, उनको मिल गया तो ठीक है, अपन तो छोटे-मोटे किसी चश्मे से काम चला लेंगे। हमने विचार किया है कि ऐसी छोटी-छोटी बातों पर अपने मन को खराब नहीं करेंगे। अपने मन की प्रसन्नता को, अपने मन की निर्मलता को खंडित नहीं होने देंगे। अगर अपने जीवन में हमने धीरे-धीरे इतनी बात शुरू कर दीं तो फिर सच्चाई इससे बड़ी और क्या है ?

स्व में सिमटना

जीवन उन्हीं का सच बनता है, वे ही सच के पास आते हैं जो कषायों से मुक्त होकर आत्मस्थ हो जाते हैं। सत्य को पाना, सच्चा होना, सच बोलना - ये तीनों ही चीजें हमें अपने जीवन में सीख लेनी चाहिए। सच को पाने का सीधा-सा अर्थ है कि हम आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लें। इस संसार में सच्चाई इतनी ही है कि हम प्योरिटी (शुद्धता) को फील (अनुभव) करें। हम अपनी निर्मलता को फील (अनुभव) करें और उसमें ही लीन हो जायें, आत्मस्थ हो जायें - यही सच को पाना है। **निर्विकार हो जाना ही सच को पाना है।** चारों कषायों के अभाव में हम जो अपनी आत्मा की शुद्ध

अवस्था को प्राप्त करते हैं वास्तव में वही सच्चाई है। लेकिन इस सच को पाना इतना आसान नहीं है। सच को पाने के लिए तो सच का आचरण करना पड़ेगा, भीतर से सच्चा होना होगा। जो भीतर से सच्चा हो जाता है, उसके द्वारा जो भी बोला जाता है वह भी सच होता है। हमारा लक्ष्य सच को पाने का हो, हमारा संकल्प सच्चे होने का हो। हम झूठ वचन से बचते रहें। यदि हम इतना पुरुषार्थ कर लेवें तो धीरे-धीरे हमारे जीवन में खूब ऊँचाई, खूब अच्छाई आये बिना नहीं रहेगी।

एक छोटी-सी घटना है - एक व्यक्ति के चार बेटे थे। पिता का बहुत मन था कि उसके बेटे सच को प्राप्त करें। वैसे आज भी माता-पिता का मन होता है कि उनके बच्चे बहुत अच्छे बनें और सच को जानें। लेकिन अपना-अपना पुण्य और पाप भी तो सबके साथ लगा हुआ है, किसी के चाहनेभर से थोड़े कुछ होता है। पिता ने चाहा कि चारों बेटे सत्य को पा लें, उन्होंने बेटों से कहा - 'जाओ, जैसे बने सत्य को पाकर लौटना। मैं तब तक यहाँ तुम्हारा इन्तजार करूँगा।'

अपन तो बच्चों को पढ़ने के लिए विदेश भेजते हैं कि पढ़कर लौटना, लेकिन कौन लौटता है ? बहुत बड़ी-बड़ी इंस्टीट्यूशन्स (संस्थाओं) में पढ़ने के लिए भेजते हैं। काहे के लिए ? कि दो रोटी कमाने लायक विद्या सीख आये। सत्य को प्राप्त करके लौटना - मेरे ख्याल से ऐसा तो आज कोई अपने बेटे से नहीं कहता होगा! कोई नहीं कहता होगा कि जाओ, जीवन में देखो, अपने अनुभव से जानो कि सच्चाई क्या है और उस सच्चाई को पाकर लौटना। पर आज केवल दो रोटी के लिए, अपनी आजीविका चलाने के लिए थोड़ी बहुत विद्या सीखकर आ जाये ताकि जरा ढंग से कार में घूमते हुए जीवन व्यतीत कर सके, अच्छे गद्दों-डनलॅप पर सोये, कूलर में रहे, बस यही सच्चाई है जीवन की। जिनके जीवन में इतना पा लेना ही सच को पा लेना है उनसे तो अपन को कोई बात ही नहीं करनी। यदि ये सब चीजें सच्चाई होतीं तो आज तक तो अपन को सच्चाई मिल गई होती। सबके पास सब कुछ तो है क्या इसके बाद भी जीवन सच्चा हो पाया ? क्या हमने सच्चाई को पाया ? बल्कि कुछ दिनों के बाद ये सारी चीजें बेमानी मालूम पड़ने लगती हैं, व्यर्थ मालूम पड़ने लगती हैं। हाँ तो, उस पिता ने भेजा कि सच को प्राप्त करके लौटना। उन चारों भाइयों ने तय किया कि बारह वर्ष तक अपन खोज करेंगे, फिर वापिस लौटकर एक निश्चित स्थान पर मिलेंगे और फिर एकसाथ पिताजी के पास चलेंगे।

ऐसा ही हुआ। चारों भाई बारह वर्ष बाद लौटे। पिता तो बहुत अशक्त हो गये थे, बिस्तर पर लेटे हुए थे। जब उनको खबर मिली कि चारों बेटे लौट आये हैं तो बहुत खुश

हुए कि जीवन पूरा होने से पहले बच्चे आ गये। अब उनसे पूछ लें कि उन्होंने सच को पाया या नहीं ? सबसे पहले बड़े बेटे से पूछा - 'सच को पाया ?' उसने ग्रंथों से चुनी हुई बहुत सारी गाथाएँ और ऋचाएँ सुना दीं जो कि बड़े-बड़े ऋषियों और मुनियों ने लिखी थीं। इससे पिता को संतोष नहीं हुआ।

अब दूसरे बेटे की ओर इशारा किया - 'क्या तुमने सच को पा लिया ?' उसने सच्चाई से सम्बन्धित बहुत सारे सूत्रों को दोहरा दिया। पिता को इससे भी संतोष न हुआ।

तीसरे पुत्र ने विभिन्न धर्मों में सच के बारे में जो अच्छी-अच्छी बातें और सुभाषित थे वे सुना दिये। इससे भी पिता संतुष्ट न हुए। अब तो उन्हें लगा कि हमारा इनको जन्म देना ही व्यर्थ हो गया। मैं बारह वर्ष तक यह इंतजार करता रहा कि ये सच को पाकर लौटेंगे लेकिन ये तो सच के बारे में कुछ इन्फॉर्मेशंस (सूचनाएँ) लेकर लौटे हैं, इन्होंने सच को प्राप्त नहीं किया। सच के बारे में कुछ इन्फॉर्मेशंस कलक्ट (सूचनाएँ एकत्र) करने का नाम सच को पाना नहीं है।

फिर थोड़ी आशाभरी नजरों से चौथे बेटे की तरफ देखा। चौथे बेटे ने पिता के चरणों में झुककर प्रणाम किया और अत्यन्त प्रसन्न भाव से एक दृष्टि भर के पिता की ओर देखा फिर अपनी आँखें नीची कर लीं। पिता बहुत प्रसन्न हुए। उठकर अपने गले लगा लिया उसे और कहा - 'मुझे संतोष है कि मेरे मरने से पहले मेरे एक बेटे ने सत्य को प्राप्त कर लिया।'

सत्य को प्राप्त करने के मायने ये ही हैं कि हमारा जीवन अत्यन्त शान्त और राग-द्वेष से रहित हो जाये। ये प्रतीकात्मक घटना है। क्या हम अपने जीवन में ऐसे ही सत्य को पाने का लक्ष्य बना सकते हैं ? हमें भी अपने जीवन में ऐसी ही सच्चाई को पाने का लक्ष्य रखना चाहिए जो राग-द्वेष से रहित हो, जिसमें कषायें न हों फिर हम सारे संसार को जानें - वास्तव में यही सत्य को पा लेना है। लेकिन इस सत्य को पाने के लिए मेहनत बहुत करनी पड़ेगी, भीतर से सच्चा होना पड़ेगा। जिसका मन जितना सच्चा होगा उसका जीवन भी उतना ही सच्चा होगा। जिसका व्यवहार जितना सच्चा होगा उसका जीवन भी उतना ही सच होगा। जिसकी वाणी में जितना सच होगा उसका जीवन भी उतना ही सच होगा। जीवन सच्चा होने के लिए सबसे पहली जरूरत है कि हम अपने मन को सच्चा बनाएं। इसके लिए सच्चाई को पाने के लिए आचार्य भगवन्तों ने आठ बातें लिखी हैं। हम सच्चा होने की ओर कदम बढ़ाएं तो पहला कदम है -

१. **हम सच्चाई के प्रति कभी संदेह न करें।** हम लोग झूठ को तो सच मान लेते

हैं लेकिन कोई अगर सच कहे तो संदेह करने लगते हैं। इसलिए पहली चीज कि जैसे ही ये मालूम पड़े कि यह सच है - हम कभी उसके प्रति संदेह न करें।

२. यदि झूठ से हमें सारा संसार मिलता हो तो भी हम **संसार की आकांक्षा न करें** बल्कि सच की ही आकांक्षा करें तो हमारा जीवन सच्चा हो सकता है।

३. तीसरी बात - हम **कभी सच से घृणा न करें,** सच्चे व्यक्ति से घृणा न करें। होता यह है कि हम सच्चे और अच्छे आदमी को बड़ी हिकारत की दृष्टि से देखते हैं। उसे बड़ा बुद्धिहीन, आउट ऑफ डेट (पुराना) मानते हैं, लेकिन यह ठीक नहीं है। हम सच से घृणा करने से बचते रहें, हमेशा।

४. कितने भी प्रलोभन आ जावें पर हम **सच के मार्ग से विचलित न होवें।** हम सच्चे मार्ग पर चलें। ऐसी कुछ बातें हमें अपने जीवन में शामिल करनी पड़ेंगी।

५. सच्चाई के रास्ते पर चलनेवाले की कुछ गलतियाँ हो सकती हैं, उन **गलतियों को इग्नोर (अनदेखा, अवहेलना) करें।**

६. सच के रास्ते पर चलनेवाला व्यक्ति कभी चूक भी सकता है, कभी गिर भी सकता है, हम उस सच्चे राही की **एक-आध बार की चूक को इग्नोर (अनदेखा) तो करें ही बल्कि उसे सम्हलने के लिए अवसर भी दें।** हम स्वयं भी अगर सच्चाई से विचलित हो जावें तो अपने को सम्हाल लें।

७. और जब भी मन में प्रेमभाव उमड़े तो **सच्चाई के प्रति ही प्रेम करें।**

८. हम सच्चाई का सम्मान करना भूल गये हैं। हम दुनिया में जितना झूठ का सम्मान करने लगे हैं, झूठे व्यक्ति का सम्मान करने लगे हैं काश ! उसका एक प्रतिशत भी अगर **सच्चाई का, सच्चे व्यक्ति का सम्मान करना शुरू कर दें** तो हमारे अपने जीवन में सच्चाई आना शुरू हो जायेगी।

एक छोटी-सी घटना हमेशा याद आती है ऐसे मौके पर। विदिशा की घटना है, सन् उन्नीस सौ बानवे। वहाँ चातुर्मास था। एक पिता अपने पाँच-सात वर्ष के बेटे को लेकर आया और मुझसे कहा - 'मैं आज जीवन में सबसे ज्यादा दुःखी हूँ।'

मैंने पूछा - 'क्यों ? क्या हुआ ? क्या इस बेटे ने कुछ कह दिया ?'

'नहीं। इसने मुझसे कभी कुछ नहीं कहा, हमेशा सच ही बोला। लेकिन आज ये मुझसे झूठ बोला, पता नहीं क्यों ? आज मुझे लग रहा है कि मेरी इतने वर्षों की साधना नष्ट हो गई। मैंने संकल्प लिया था कि मैं अपने पुत्र को सच्चा बनाऊँगा। कभी इसे मेरे सामने झूठ न बोलना पड़े, झूठा न होना पड़े। मैं भी अपना जीवन ऐसे जीऊँगा जिससे इसे झूठ बोलने का अवसर ही न मिले। लेकिन आज पता नहीं क्यों, इसने मेरे से ही झूठ

बोला। दुनिया से बोला होता तो भी कोई बात थी। अगर एक बार इसे मुझसे झूठ बोलने की आदत बन गई तब तो मेरा होना न होना व्यर्थ ही है।' बहुत दुःख से उन्होंने इस बात को कहा।

मैंने कहा - 'ठीक है, मैं इससे बात करूँगा। कोई न कोई बात होगी। छोटे बच्चे झूठे नहीं होते, कोई न कोई मज़बूरी रही होगी या कोई प्रबल संस्कार इसके भीतर रहा होगा! आप जाइयेगा।'

उनके जाने के बाद मैंने उस बच्चे से पूछा - 'क्या ये सच है कि तुमने अपने पिता से झूठ बोला ?'

उसने कहा - 'हाँ, सच है, मैंने झूठ बोला।'

'क्या मजबूरी थी ?'

'कुछ नहीं।' उसने कहा - 'मैं आपको पूरी बात बता देता हूँ। पिताजी को तो नहीं बताई। कल मुझे थोड़ा सिरदर्द था। मैं अपने गणित के सवाल हल नहीं कर पाया और ऐसे ही स्कूल चला गया। स्कूल में जब गुरुजी ने पूछा - 'सबने अपने सवाल हल कर लिये ?' मैंने नहीं किये थे तो मैंने खड़े होकर स्पष्ट कहा कि मैंने नहीं किये। इस पर गुरुजी ने मुझे बहुत डाँटा भी और मारा भी। लेकिन मैंने देखा कि मेरे बाजूवाले लड़के ने भी सवाल नहीं किये थे। लेकिन वह अपनी कॉपी बन्द कर चुपचाप बैठा रहा, उसने झूठ बोल दिया कि 'हाँ, मैंने कर लिये।' गुरुजी ने उससे कुछ नहीं कहा। मेरे मन में पहली बार ये बात आई कि यदि मैं भी झूठ बोल देता तो डाँट से-मार से बच जाता। अब यदि मैं झूठ का सहारा लूँ तो मुझे लाभ ज्यादा है। मैं घर जाकर हमेशा की तरह यह बात ज्यों की त्यों बताता लेकिन उस दिन मेरे मन में आया कि यदि पिताजी को बताऊँ कि आज मुझे सवाल हल न करने की वजह से डाँट पड़ी है तो हो सकता है कि पिताजी भी मुझे डाँटें कि क्यों नहीं किये थे सवाल ? इससे बेहतर है कि मैं पिताजी से झूठ बोल दूँ। और इसीलिए मैंने पिताजी से झूठ बोल दिया।'

जब भी हम किसी की सच्चाई का सम्मान नहीं करते तो मानियेगा हम उस व्यक्ति को झूठा होने के लिए प्रेरित करते हैं। यदि हम सच्चाई का सम्मान करना शुरू कर दें तो कोई व्यक्ति झूठा क्यों होगा ? आजकल झूठे होने पर सम्मान ज्यादा दिखाई पड़ता है तो व्यक्ति सोचता है कि ठीक है, इसमें ज्यादा लाभ है। जिसमें ज्यादा लाभ है वह काम करो। इसलिए बहुत जरूरी है कि हम सच्चाई का सम्मान करने की आदत डालें। मान लो, हम सच्चे नहीं हैं, हम झूठे हैं, फिर भी जो सच्चा है उसका सम्मान होना चाहिए और आखिरी बात - यहाँ बैठे सच्चाई के गुण गायें तो हमारा

जीवन भी सच्चा होना शुरू हो जायेगा। अभी तो हम झूठ के गुण गाते हैं। दूसरों से बोलकर अपन ने जो अचीव (प्राप्त) किया है अपने उस बड़प्पन को हाँकते रहते हैं। आत्म-प्रशंसा करते रहते हैं। हमें कोशिश करनी चाहिए कि किसी व्यक्ति में कोई सच्चाई हो तो हम उसका गुणगान करें। जहाँ-जहाँ भी सच्चाई है हम उसके गुणगान करें। जहाँ-जहाँ भी सच्चाई है हम उसके गीत गायें तो हमारा जीवन धीरे-धीरे सच्चा होना शुरू होगा।

सत्य का अर्थ

जिसका जीवन सच्चा हो जाता है उसके द्वारा बोला गया/बोला हुआ ही सच है। क्योंकि सच्चा व्यक्ति ही दूसरे को क्षति नहीं पहुँचा सकता। यदि झूठा व्यक्ति सच भी बोलेगा तो दूसरे को क्षति पहुँचाने के लिए ही बोलेगा। इसलिए बहुत **जरूरी है पहले सच्चा होना फिर बाद में सच बोलना।** झूठे व्यक्ति द्वारा बोला गया सच भी बड़ा हानिकारक होता है। सच बोलने का अर्थ यहाँ मात्र इतना ही नहीं है कि जो बात जैसी है उसे वैसी ही कह देना। इतना ही अर्थ लगायेंगे तो हमने फिर न सत्य धर्म को समझा, न सत्य महाव्रत को समझा, न सत्य अणुव्रत को समझा, न भाषा समिति को समझा, न वचन गुप्ति को समझा। आचार्य भगवन्तों ने सच बोलने से पहले इन सब बातों पर, इतनीसारी बातों पर विचार करने को कहा - पहली चीज - जहाँ तक बन सके वचन का उपयोग मत करना। जितना हो सके वचन का प्रयोग करने से बचना। ये न हो सके तो अशुभ वचन - जो दूसरों के लिए अहितकारी हैं, अशुभ की इतनी ही परिभाषा बनाई, बिल्कुल पृथक्। अर्थात् दूसरे को हानिकारक, दूसरों को पीड़ा पहुँचानेवाले वचन अशुभ हैं। बहुत गौर से सुनियेगा! क्योंकि आचार्य भगवन्तों ने जिस तरह लिखा है उसे हम ठीक ढंग से समझें। मैं भी कहीं चूक जाऊँ तो उसे फिर सुधार लेंगे। पर हम सब इस चीज को बहुत गौर से समझें - सबसे पहले तो वचन का उपयोग ही न करना पड़े, अच्छी स्थिति तो यही है, इसे कहते हैं वचनगुप्ति। थोड़ी-सी राहत-रियायत भी दी है इसमें कि **अशुभ वचन से मौन हो जाने का नाम भी है वचनगुप्ति।** समस्त प्रकार के वचन का त्याग करना वचनगुप्ति है। लेकिन अशुभ वचन का त्याग कर देना - यह भी वचनगुप्ति है।

जब हम समस्त अशुभ वचनों का त्याग कर देते हैं और सत्य बोलने का संकल्प करते हैं तब वह कहलाता है 'सत्य महाव्रत'।

पर वधकार कठोर निन्द्य नहिं वयन उचारै।

और, सब बोलेंगे पर दूसरों को चोट पहुँचानेवाले कठोर और निंदनीय वचनों का त्याग करना ये सत्य अणुव्रत कहलाता है।

ये सब भेद हैं। किसी ने सत्य महाव्रत धारण कर लिया, किसी ने सत्य अणुव्रत। वचनगुप्ति तो आज देखने में आयेगी नहीं, आज ऐसे महान योगी कोई नहीं हैं जिनको वचनगुप्ति हो या मनोगुप्ति हो या कायगुप्ति हो। इन तीनों गुप्तियों को धारण करनेवाले ऋद्धिधारी मुनिराज का इस काल में अभाव है पर सत्य महाव्रत और सत्य अणुव्रत धारण करनेवाले मुनि और श्रावक आज भी हैं। जिन्होंने जीवनभर के लिए सत्य बोलने व असत्य से विरक्त होने का नियम ले लिया है उनके लिए भी दो बातें और कही गई हैं - आपने सत्य बोलने का नियम लिया है फिर भी जब भले लोगों में बोलेंगे तो सत्य धर्म का पालन करना और सब तरह के लोगों में बोल रहे हों तो हित-मित और प्रिय वचन बोलना - ये भाषा समिति है। जो सज्जन पुरुष हैं वे आपके आशय को ठीक समझेंगे, उनसे सत्यधर्म का पालन करते हुए बोलना, इसमें कोई लिमिटेशन (सीमा) नहीं है, न टाइम (समय) की न किसी और की, जितना हो उतना बोलना पर जब सब तरह के लोगों के बीच बोलना है जिनमें कुछ आपका आशय ठीक समझ पायेंगे - कुछ नहीं समझ पायेंगे तब भाषा समिति का पालन करना अर्थात् हित-मित और प्रियवचन बोलना। हितकारी वचन अर्थात् जो दूसरों के लिए और अपने लिए कल्याणकारी हों, जिसमें अपना व दूसरों का स्वार्थ सधता हो वे हितकारी वचन नहीं हैं, ध्यान रखना! जिससे कल्याण हो वे हैं हितकारी वचन और मित के मायने क्या है ? मित का मतलब है सीमित - संक्षिप्त, बहुत टेलिग्राफिक (सांकेतिक), टू द प्वाइंट (सारगर्भित-सारपूर्ण) प्रीसाइज (संक्षिप्त, थोड़ा), यदि दो शब्द से काम चल जाये तो तीसरा शब्द बोलने की आवश्यकता नहीं है। तीसरी चीज है - प्रिय बोलना। सामान्यरूप से कहने में यही आता है कि सच कड़वा होता है। कल मैं इस बारे में ग्रंथ पलटता रहा, एक जगह मिल गया कि सच केवल कड़वा ही नहीं होता, सच अमृत के समान भी होता है। जिनके भीतर विष होता है उन्हें वह विषाक्त मालूम पड़ता है पर होता वह अमृतमय है। इसलिए आचार्य भगवन्तों को बोलने पर इतनी सारी बातें - नियम - पाबंदियाँ लगानी/बतानी पड़ीं कि बोलो तो हित बोलना, मित- टू द प्वाइंट (सारपूर्ण व आवश्यक) बोलना और प्रिय बोलना। ये तीनों चीजें बहुत विचार करने की हैं।

सत्य की परिभाषा

इन पर विचार करने के पहले अपन थोड़ा ये विचार कर लें कि हमारे आचार्यों

ने सत्य की परिभाषा क्या बनाई ? जो हितकर है वही सत्य है। ऐसा सत्य जिससे दूसरे को क्षति पहुँचती हो वह असत्य के कैडर (श्रेणी) में है। ये सिर्फ जैन आगम की फिलॉसफी (दर्शन, चिन्तन, मान्यता) है। पूरी दुनिया सत्य के बारे में यही मानती है कि जैसा देखा वैसा का वैसा कह दो, जैसा सुना वैसा का वैसा कह दो, जैसा जाना वैसा का वैसा कह दो - इसी को सत्य कहते हैं वे। लेकिन जैनाचार्य कहते हैं कि ये सब चीजें बाद की हैं, पहले यह देखना कि स्व-पर कल्याण की भावना से बोला जा रहा है या मन की कड़ुवाहट से या क्रोध-लोभ-भीरूत्व-हास्य के मिश्रित भाव से बोला जा रहा है ? जैसा देखा—वैसा बोला लेकिन हास्य से मिश्रित होकर बोला या आपका मोटिव (उद्देश्य) गड़बड़ है तो भीतर के भाव गड़बड़ हो जाने से वह सत्य भी झूठ में परिवर्तित हो जाएगा।

आशय/प्रयोजन है महत्वपूर्ण

सबसे पहली बात है - सत्य बोलना लेकिन सत्य बोलने के पहले ध्यान रखना कि बोलने की जरूरत क्या है ? मक़सद क्या है बोलने का ? इन्टेंशन, अभिप्राय, प्रयोजन क्या है आपका ? आप बहुत सत्यवादी हैं लेकिन यह सच आप बोल क्यों रहे हैं ? जरा भीतर टटोलकर देखना यह ! आप दूसरे की या अपनी दोनों की स्थितियाँ विचारना। अपन दूसरे को चोर तो नहीं कह रहे लेकिन अपने को साहूकार साबित करने की जो बात है उससे तो साफ है कि दूसरे को चोर साबित करना चाह रहे हैं। बहुत कठिन है ये मामला, इसे बहुत गौर से समझना पड़ेगा। भीतर के भावों को पहचानें हम मन में कि हम कितने सच्चे होकर सच बोल रहे हैं। यदि मन में कोई दुराव हो, मन में कोई क्रोध-लोभ-भय इस तरह की कषायवश अगर हम बोल रहे हैं तो मालूम है वह सत्य की कैडर में ही नहीं आयेगा। इसलिए सच बोलते समय ये तीन चीजें ध्यान में रखने की हैं - सच बोलना है, ध्यान रखना है कि अच्छे मन से बोलना है, कड़वे मन से बोला जायेगा तो वह सच भी झूठ में परिवर्तित हो जाएगा। दूसरी बात कि सच बोलने से पहले उसके परिणाम पर विचार कर लेना। आप बोल तो सच रहे हैं, उद्देश्य तो सच बोलने का ही है पर उसका परिणाम क्या निकलेगा ?

जग सुहितकर, सब अहित हर, श्रुति सुखद सब संशय हरै।
भ्रमरोग हर जिनके वचन, मुखचन्द्र तैं अमृत झरैं।

इन दो पंक्तियों में सब चीजें आ गईं। पंडित दौलतराम जी ने छहढाला में इन दो पंक्तियों में सार भर दिया। अपन ने जितना विचार किया वह सब इन दो पंक्तियों में कह

दिया उन्होंने - *जग सुहितकर* - जिसमें सबका भला हो, *सब अहितहर* - जिसमें किसी का भी बुरा न हो, *श्रुति सुखद* - जो सुनने में सबको भली लगे, *सब संशय हरे* - किसी के मन में कोई संशय-डाउट न हो कि क्या कहना चाह रहे थे और ऐसा लगे कि *मुख चन्द्र तैं अमृत झरैं*। क्या अपने वचन को धीरे-धीरे अभ्यास से ऐसा नहीं बना सकते! बोलना तो सबको पड़ता है। अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए भाषा की मदद तो लेनी ही पड़ती है। लेकिन आचार्य भगवन्त कह रहे हैं कि हम इस भाषा के द्वारा भी अपने जीवन को ऊँचा उठा सकते हैं, पर इतने बेरियर्स (अवरोध) पार करने के बाद फिर वचन बोले जायें। इतनी सब बातों का ध्यान रखकर फिर वचन बोले जायें तब वे वचन अपने व दूसरों के दोनों के हित में कारण बन सकते हैं।

वचन बहुत प्रभावी होते हैं। वचन का घाव सबसे ज्यादा तकलीफ पहुँचानेवाला होता है। आप किसी से मारपीट कर दीजिएगा वह दो-चार-दस दिन के बाद भूल जायेगा। अगर बहुत चोट लग गई होगी तो वह चोट भी दो-चार-आठ दिन में ठीक हो जायेगी लेकिन आपने किसी के लिए कोई मर्मभेदी वचन कह दिया तो वह जीवनभर उसके मन में सालता रहेगा, चुभता रहेगा। बहुत जरूरी है वचन को सम्हाल करके बोलना।

एक घटना है - एक किसान था। किसी मजबूरी से उसे जंगल में लकड़ी काटने जाना पड़ा। खेतों में दाना नहीं उगा इसलिए लकड़ी काटना पड़ा। जंगल में एक शेर से सामना हो गया। शेर को देखकर वह किसान भागने को हुआ लेकिन शेर की कराह सुनकर वह रुक गया। शेर के पाँव में काँटा चुभ गया था इसलिए वह दर्द से कराह रहा था और इसीलिए उसने किसान पर आक्रमण नहीं किया बल्कि बड़ी कातर दृष्टि से किसान की ओर देख रहा था। किसान का भय मिट गया। किसान शेर के पास गया शेर ने अपना पंजा ऊपर उठा दिया। किसान ने उसके पैर से काँटा निकाल दिया। किसान वापस लौटने लगा तो शेर ने कहा - हाँ कहानी का शेर तो बात करता ही है, मैं तो इसे ऐसे लेता हूँ कि अगर किसी के भीतर प्रेम हो तो उसकी भाषा सबको समझ में आयेगी। उस समय किसान ने उसका काँटा निकाला था। उसके प्रति शेर का प्रेम था शायद इसलिए उसे शेर की भाषा समझ में आ गई। भले ही शेर ने कैसी ही लैंग्वेज (भाषा) का प्रयोग किया हो सब समझ में आ गई। अपन किसी को जरा कठोर आँखों से देख लें तो सब समझ जाते हैं कि कैसे देख रहे हैं! कौन नहीं समझता ? आप प्यार से देख रहे हैं, आप दया से देख रहे हैं या क्रोध के वशीभूत होकर देख रहे हैं, आपने बोला कुछ नहीं है पर आपके भावों की भाषा मन को प्रदर्शित कर देती है। इसीलिए तो लिखा गया है

कि जिसका मन सच्चा होगा उसके सारे एक्सप्रेशन्स (भावाभिव्यक्ति), उसकी वाणी भी बिल्कुल सच होगी और जिसका मन झूठा है तो उसके सारे एक्सप्रेशंस (भावाभिव्यक्ति), उसकी वाणी भी झूठ की कैडर (श्रेणी) में चली जायेगी और उसने (शेर ने) कहा - 'सुनो ! मैं तुम्हारी क्या मदद कर सकता हूँ ?'

किसान ने कहा - 'मुझे मेरी बिटिया की शादी की चिन्ता है। मेरे पास पैसा नहीं है। क्या करूँ ?'

शेर ने कहा - 'आओ मेरे साथ।' वह उस किसान को अपनी गुफा में ले गया। वहाँ सोने के बहुत सारे गहने पड़े थे। शेर ने कहा, 'तुम्हें जितने चाहिए उतने ले जाओ इसमें से।'

किसान बहुत खुश हुआ। वहाँ से जेवर लाकर उसने बिटिया की शादी बड़े ठाट-बाट से करने का प्लान (योजना) बनाया। उसने शादी में शेर को भी बुलाया, कहा - 'भाई ! तुम तो मेरे हितैषी हो, तुम जरूर आना शादी में।'

शादी के दिन शाम को ही पहुँच गया है शेर भी, और एक तरफ खड़ा हो गया। लोगों ने देखा - शेर, तो भयभीत होने लगे। किसान तो व्यस्त था शादी के कामों में। किसान की जीवनसाथी लोगों से बोली - 'अरे ! इससे क्या डरना ? ये शेर थोड़े ही है, ये तो गधा है - गधा, खड़े रहने दो।' शेर ने सुन ली यह बात। वह शादी अटैण्ड (उपस्थित) किये बिना ही वापस चला गया।

दो-तीन दिन बाद किसान जंगल में पहुँचा। उसने शेर से कहा - 'तुम शादी में आये फिर भी बिना कुछ देखे, बिना आशीर्वाद दिये ही वापस चले आये ?'

शेर ने कहा - 'सुनो ! तुम ये लकड़ी काटने के लिए जो कुल्हाड़ी लाये हो उसे मेरे सिर पर जोर से मारो।'

किसान ने कहा - 'क्या कह रहे हो ये ? हम तुम्हारे मित्र हैं। हम तुम्हारे सिर पर कुल्हाड़ी मारें ! इतने कृतघ्न तो हम नहीं हैं।'

शेर ने कहा - 'मारते हो कि नहीं मारते ? वरना आज तुम्हें समाप्त कर दूँगा।'

अब तो किसान बहुत घबराया। उसने बड़े बेमन से, बहुत मुश्किल से उसके माथे पर वार कर दिया। शेर का माथा फट गया। खून निकलने लगा। शेर ने किसान से कहा - 'जाओ, लौट जाओ। बस इतना ध्यान रखना कि दस-पन्द्रह दिन बाद आकर मुझे देख जाना।'

दस-पन्द्रह दिन बाद बहुत डरते-डरते, हाथ जोड़े किसान शेर के सामने पहुँचा। शेर ने अपना सिर आगे करके कहा - 'देखो ! सिर के घाव का क्या हुआ ?'

घाव तो मिट गया था। किसान ने देखकर कहा - 'ये घाव तो मिट गया।'

'लेकिन एक घाव अभी मेरे मन में बहुत गहरा है।' शेर ने कहा।

'क्यों, क्या हुआ ?' किसान ने पूछा।

'मैं तुम्हारे घर पहुँचा था। मैं तो वहाँ बहुत चुपचाप खड़ा हो गया था। वहाँ पर लोग मुझ से डर रहे थे।' शेर बताने लगा सारी बात। 'तब तुम्हारी जीवनसाथी ने कहा कि डरने की कोई बात नहीं, ये तो शेर नहीं गधा है, गधा। ये बात आज भी तकलीफ पहुँचाती है।'

शरीर पर पड़ा हुआ घाव तो मिट गया पर मन को लगा हुआ घाव नहीं मिटा। (तालियों की ध्वनि) मेरी बात को तालियों के शोर में मत भुलाइये। इससे लोग ये कहने लगते हैं कि कितनी बार तालियाँ बजीं ? जितनी बार तालियाँ बजीं उतना ही अच्छा प्रवचन है। कृपा करके इससे मुझे बचाये रखें। ये तालियों का शोर, ये प्रशंसा का शोर व्यक्ति को सच्चाई से विमुख करने में बहुत बड़ा कारण बन जाता है। **दो ही चीजें तो हैं जो आदमी को सच से विमुख कर देती हैं - सत्ता और सम्पत्ति।** एक बार ये लगने लगे कि मैं बहुत बलवान हूँ, मेरे पास पूरा हुजूम है तो मानियेगा कि वो झूठा होकर भी वह अपने को सच साबित करेगा। सत्ता और सम्पत्ति दोनों ही व्यक्ति को विमुख करती हैं। बहुत सम्हलकर जीवन चलाने की आवश्यकता है। सोचता हूँ - तालियों के शोर में मुझे ऐसा न लगने लगे कि पास हो गये बच्चू ! अब तो बढ़िया बोलने लगे, तालियाँ पिट रही हैं हर दो-दो मिनट में। हाँ, ऐसा लगने लगता है। अपन को कदम-कदम पर सम्हलना है। इतना ही आशय है मेरा, इन ताली बजानेवालों को दुःख पहुँचाने के भाव नहीं हैं, ऐसा नहीं बोल रहा। बस, मैं तो यह कह रहा हूँ कि इन चीजों को अपन सीरियॅसली (गंभीरता से) समझें, हाँ इस उदाहरण से अपन ने सीखा कि वाणी बहुत सोचकर बोलनी चाहिए।

बोलें - जो सत्य हो, प्रिय हो

आचार्यों ने क्लियर (स्पष्ट) करने के लिए लिखा है - सत्यंवद् प्रियंवद्। सच बोलें, प्रिय बोलें। अप्रिय और असत्य तो बोलो ही मत। प्रिय बोलो और सच बोलो। यदि झूठ भी प्रिय हो तो मत बोलो और सच भी अप्रिय हो तो मत बोलो। ये दो-दो कन्डीशंस (शर्तें) रखीं। इसके लिए भी एक बहुत अच्छा उदाहरण है। समझने के लिए एक छोटा सा उदाहरण लें -

एक राजा साहब को अपना चित्र बनवाना था। इसके लिए बहुत सारे कलाकार

बुलवाये। राजा साहब का चित्र तो सुन्दर ही बनना चाहिए। पर राजा साहब के साथ मुश्किल ये थी कि उनकी एक आँख नहीं थी। अब राजा साहब का सुन्दर चित्र बनाना है। अगर चित्र सच्चा बनाते हैं तो सुन्दर नहीं बनेगा क्योंकि एक आँख नहीं बनेगी। एक चित्रकार ने कहा - 'इससे कोई मतलब नहीं, जो सच है वही बनायेंगे अपन तो।' उसने राजा साहब की एक आँख नहीं बनाई, बाकी तो सब सुन्दर था। राजा साहब को वह चित्र पसन्द नहीं आया।

दूसरे कलाकार ने सोचा - अरे वाह ! सुन्दर बनाना चाहिए, सच से क्या मतलब ! उसने राजा की दोनों आँखें एकदम दुरुस्त, एकदम बढ़िया बना दीं। उसे देखकर राजा ने कहा - 'ये चित्र झूठा है। सुन्दर तो है।'

ये प्रिय मालूम पड़ता है लेकिन झूठा है। पहलेवाला अप्रिय मालूम पड़ रहा था वह सच्चा था। दोनों ही रिजेक्ट (अस्वीकृत) हो गये। **सच जो अप्रिय है वह भी ठीक नहीं है और झूठ जो कि प्रिय है - वह भी ठीक नहीं है।**

तीसरे कलाकार ने चित्र बनाया। राजा साहब बहुत शूरवीर हैं, बलवान हैं और तीरंदाज हैं। वे हाथ में धनुष-बाण लिये हैं और निशाना साध रहे हैं। निशाना साधने पर एक आँख बंद रहती है, चित्र में इस प्रकार एक आँख बंद दिखाई गई । वह चित्र पास हो गया क्योंकि वह सत्य भी है, प्रिय भी है।

आप सब समझ रहे हैं इस बात को। हमें 'सच भी और प्रिय भी' किस तरह से इस बात का ध्यान रखना है - सत्यंवद्, प्रियंवद्; अप्रियं न वद्, प्रियं असत्यं अपि न वद्, सत्यं अप्रियं कदापि न वद्।

इस प्रकार अपन अगर थोड़ी-सी सावधानी रखकर अपने वचनों का प्रयोग करें तो कोई वजह नहीं कि अपन अपने जीवन को ऊँचा न उठा सकें। कदम-कदम पर झूठ बोलने के अवसर आते हैं। कहाँ बोलनी पड़ती है झूठ, क्यों लेना पड़ता है झूठ का सहारा - इन बातों को थोड़ा-सा समझें। इसके लिए कि दो पैसे की बरकत हो जाये। और काहे के लिए! संसार में व्यक्ति को क्यों झूठ बोलना पड़ता है ? अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए बोलना पड़ता है झूठ। कभी-कभी भय से बोलना पड़ता है झूठ। लेकिन दिन भर में एक मौका तो ऐसा लायें कि किसी के लिए अपने मुँह से झूठ निकल भी जाय तो शाम ढलने के पहले अपन कनफैस (स्वीकार) कर लें उसके सामने जाकर। क्या इतना साहस है अपन में कि ये कह सकें - जो हमने आपसे कहा था वह सच नहीं था। दिन भर में बोले गये सौ झूठ में से अगर एक झूठ को भी कोई कनफैस (स्वीकार) कर लेवे तो वादा नहीं करता पर कहता हूँ कि जरूर जीवन सच्चा होना शुरू हो जायेगा।

बहुत छोटा-सा सूत्र है - हम से झूठ निकल जाता है, मजबूरी में निकल जाता है, कई बार हम जान-बूझकर बोल देते हैं लेकिन हम समझ जाते हैं कि हमने झूठ बोला है या फिर किसी के कहने पर हमें समझ में आ जाता है कि जो ये हमने बोला ये झूठ है तो क्या हम शाम होने से पहले उस झूठ को कनफैस (स्वीकार) नहीं कर सकते ? कनफैस (स्वीकार) कर सकते हैं, उसी व्यक्ति के सामने जाकर कनफैस करना चाहिए कि - ये देखो, मैंने जो कहा था वह झूठ था, मैं अब सच बताता हूँ कि सच्चाई ये है।

यदि ऐसा अभ्यास शुरू कर दें तो हमारा जीवन सच्चाई की तरफ बढ़ेगा। हम सच को प्राप्त करेंगे।

हमारे जीवन को अच्छा बनाने में मदद मिले इसी भावना के साथ।

गुरुवर आचार्य विद्यासागरजी महाराज की जय !

❑❑❑

खिड़की

सम्बन्धों के बीच
पहले
एक दीवार
हम खुद
खड़ी करते हैं
फिर उसमें
एक खिड़की
और लगाते हैं
पर ज़िन्दगी-भर
क़रीब रहकर भी
हम खुलकर
कहाँ मिल पाते हैं ?

- मुनिश्री क्षमासागरजी

उत्तम संयम

- ❑ **अपने मन-वचन और इन्द्रियों को संयमित कर लेना, नियमित कर लेना, नियन्त्रित कर लेना इसी का नाम संयम है।**
- ❑ **संयम के मायने केवल अनुशासन नहीं है, आत्मानुशासन है, आत्म-नियन्त्रण है।**

हम सभी लोगों ने पिछले दिनों अपने जीवन को अच्छा बनाने के लिए क्रोध का अवसर आने पर क्षमाभाव धारण करने का विचार किया है। जहाँ कठोर होने का अवसर आये वहाँ अपनी कोमलता और मृदुता को कैसे सुरक्षित रखा जाय - इस पर विचार किया। जहाँ हम अपने छल-कपट के द्वारा अपने जीवन में उलझन खड़ी कर लेते हैं - दूसरों के जीवन को भी मुश्किल में डाल देते हैं वहाँ हमने सोचा है कि अपने मन को सरल बनाये रखेंगे, ईमानदार और सीधा-सच्चा, सादगीभरा जीवन जीने का प्रयास करेंगे। ये बात फर्क है कि कौन कितना सफल होता है इसमें ! पर विचार करने में कोई हर्ज़ा नहीं। जीवन में मलिनताएँ भी रोज-रोज हमें घेरती हैं। हमारे सामने नये-नये ढंग से दुनिया की चीजों के प्रलोभन आते हैं। उस बीच भी हमारा प्रयास/प्रयत्न उन मलिनताओं से बचकर अपनी निर्मलता को बनाये रखने का हो - ऐसा हमने विचार किया है। यदि हम अपने जीवन में इन सारी चीजों को हासिल कर लेते हैं तो समझें कि हमने जीवन में सच्चाई को हासिल कर लिया। कषायों को जीतनेवाला ही अपने जीवन में सत्य का दर्शन करता है। सत्य हासिल हो जाने के बाद थोड़ी जिम्मेदारी बढ़ जाती है। सच्चाई हाथ आते-आते फिसल जाती है। एक बार हमने सच्चाई को जान लिया तो फिर हम झूठे आचरण या झूठे व्यवहार से बचने लगेंगे। बचना तभी संभव है जब हम इस बात के लिए संकल्पित होंगे कि हम जीवन में हमेशा सच्चाई ही धारण करेंगे।

आज जीवन को अनुशासित और संकल्पित करने का अवसर है। हमने जीवन में सच्चाई लाने का मन बनाया है उसे कैसे बरकरार रखा जाय ? कैसे सुरक्षित रखा जाय ? इसके लिए जरूरी है कि हम अपने जीवन को अनुशासित करें, विभिन्न संकल्पों

द्वारा उसको संयमित करें, इसी का नाम संयम धर्म है। जैसे - दीपक की लौ जलती है किन्तु उसके बुझने का खतरा बना रहता है, वह कितनी देर रोशनी करेगी - कहा नहीं जा सकता, कब हवाएँ आ जाएंगी, कब उसे बुझा देंगी - पता नहीं! लेकिन यदि हम थोड़ी-सी व्यवस्था कर दें उस दीपक की लौ पर काँच की एक चिमनी रख दें तो फिर वह बुझेगी नहीं, प्रकाश पहले से भी ज्यादा उज्ज्वल होगा। ठीक ऐसे ही **यदि हमने अपने जीवन में सत्य-ज्योति हासिल कर ली है तो हमारा दायित्व है, हमारा कर्तव्य है कि हम उस पर संयम की एक चिमनी भी रख दें जिससे वह सच्चाई की ज्योति कभी बुझ नहीं पाये।**

संयम बंधन नहीं है

हमें हमेशा आज के दिन सन् उन्नीस सौ पिच्यासी की वह घटना याद आती है जब आचार्य महाराज ने अहारजी क्षेत्र में संयम धर्म पर कहा था -

एक बेल या लता यदि ऊँचाई छूना चाहे तो उसे किसी वृक्ष का या किसी लकड़ी का सहारा लेना जरूरी है। वह उसके सहारे धीरे-धीरे ऊपर बढ़ती चली जाती है और यदि उस बगीचे का माली कुशल है तो वह उस लता के साथ उसके सहारे (वृक्ष/लकड़ी) में हल्का-सा बंधन भी डाल देता है जिससे वह ऊपर की ओर ही बढ़ने लगती है। लगता ऐसा है कि ये बंधन उसके बढ़ने में बाधक हो जायेगा। पर लकड़ी से उसको मदद मिलती है, बंधन से उसका ऊपर बढ़ना नहीं रुकता। चाहे वह लकड़ी का सहारा हो या बंधन हो - ये दोनों ही उसे ऊँचे उठने के लिए मदद करते हैं। संयम भी बंधन जैसा मालूम पड़ता है - ये करो, ये न करो। ऐसा क्या ? जो करना है वह करो। हम क्यों बंधन में बँधें ? क्यों लें कोई सौगन्ध ? क्या बिना इसके नहीं जिया जा सकता ? भैया ! जिया तो जा सकता है, जी भी लेंगे पर बिना किसी संकल्प के, जीवन में बिना कोई नियम लिये हमारा जीवन कितना ऊँचा उठा है - ये हम सब जानते हैं। जीवन को ऊँचा उठाना है, जीवन को अच्छा बनाना है तो थोड़ा-सा बंधन आवश्यक है, वह बंधन जो कि जीवन को ऊँचा उठानेवाला हो। दुनिया के सारे बंधन, सारे सम्बन्ध जीवन को ऊँचा उठानेवाले नहीं है, वे सब पतन में कारण हैं लेकिन संयम का बंधन बंधन होते हुए भी जीवन को ऊँचा उठाने में मदद करता है।

अनुशासन उत्थान में सहायक

यदि नदी के दोनों किनारे मजबूत न हों तो वह नदी यहाँ-वहाँ फैलकर नष्ट हो

जाती है, वह अपने गन्तव्य तक नहीं पहुँच सकती फिर। ऐसे ही यदि हम अपने जीवन को अनुशासित करें, व्यवस्थित करें तभी हमारा जीवन ऊँचा उठ सकता है। इससे हमको भी लाभ होगा और दूसरों को भी लाभ होगा। हम अपने जीवन में बहुत प्रकार का अनुशासन अपना लेते हैं। कई जगह भय के कारण अनुशासित हो जाते हैं, कभी हमारा स्वार्थ सधता है तब भी हम अनुशासित हो जाते हैं और कभी हम अपने शरीर के लिए, स्वास्थ्य की रक्षा के लिए भी जीवन में बहुत से अनुशासन अंगीकार कर लेते हैं। लेकिन ये सारे अनुशासन जीवन को ऊँचा नहीं उठाते। आत्मानुशासन ही जीवन को ऊँचा उठाता है। इसलिए संयम के मायने केवल अनुशासन नहीं है - आत्मानुशासन है, आत्मनियन्त्रण है। हम सब चीजें शरीर की सुरक्षा के लिए करते हैं यदि वही चीज इस दृष्टि से करें कि इससे मेरी आत्मा का उत्थान होगा तो वह अनुशासन वास्तविक होगा। जो चीजें हम भयवश नहीं करते हैं उन चीजों को यदि हम अपने आत्मकल्याण की दृष्टि से त्याग कर दें, उन चीजों से बचकर अपने को नियन्त्रित रख लें तब ही वह आत्मानुशासन कहलायेगा, और कोई विशेष बात नहीं है। **यदि दृष्टि आत्म-उत्थान की है तो अपने ऊपर लगाये गये सारे अंकुश हमें ऊँचा उठा देंगे।** दूसरे के द्वारा लगाये गये अंकुश कभी किसी को ऊँचा नहीं उठाते। व्यक्ति स्वयं अपने ऊपर अंकुश लगा ले, अपने को अनुशासित कर ले तो वह अनुशासन उसके जीवन को ऊँचा उठाने में मदद करता है।

संयम के मायने है - जीवन को अनुशासित करना। संयम के मायने है - अपनी संकल्पशक्ति को, अपनी विल पॉवर (इच्छा-शक्ति) को बढ़ाना। आज नई पीढ़ी की शिकायत है कि हमें अपने ऊपर विश्वास नहीं है, हमारा आत्म-विश्वास कम हो रहा है, हमारी संकल्पशक्ति कम होती जा रही है, क्यों ? कम क्यों नहीं होगी ? हमने अपने जीवन को संयमित करने का प्रयत्न ही नहीं किया है। हम अपने जीवन को संयमित करें तो मालूम होगा अपनी संकल्पशक्ति का। जिसकी संकल्पशक्ति जितनी अधिक होती है वह अपने जीवन को उतना ही संयमित कर लेता है। कोई अपने जीवन को संयमित नहीं कर पाता इसके मायने है कि उसकी अपनी संकल्पशक्ति बहुत कमजोर है। सौगन्ध लेने के लिए बहुत साहस चाहिये। जीवनभर के लिए कोई नियम लेने, अपने आपको/स्वयं को किसी मर्यादा में बाँध लेने के लिए, संकल्पित होने के लिए बहुत साहस चाहिए। यहाँ दूसरे के द्वारा नहीं बाँधा जा रहा बल्कि स्वयं अपने आप को बाँध रहे हैं। ये साहस यदि हम जुटा लेते हैं तो ऐसे संकल्पों से, ऐसे नियन्त्रणों से हमारा जीवन धीरे-धीरे ऊँचा उठता है और आत्मविश्वास बढ़ता चला जाता है।

संयम की आवश्यकता

चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर जी महाराज के जीवन का एक संस्मरण है (मैंने कहीं पढ़ा था) - उनके पास दो लोग आये और उनसे तर्क-वितर्क करने लगे कि 'क्या जरूरी है कि हम सौगन्ध लें तभी काम बनेगा ? क्या जरूरी है कि हम आपके जैसे नग्न हों और इतनी साधना व तपस्या करें तभी जीवन अच्छा बनेगा ? क्या कपड़े पहने-पहने साधना नहीं की जा सकती ? क्या बिना किसी चीज को छोड़े हुए अपने जीवन को ऊँचा नहीं उठाया जा सकता ?' इस तरह बहुत सारे तर्क-वितर्क आचार्य महाराज श्री से करते रहे वे लोग। आधे घण्टे तक वह सब आचार्य महाराज शान्ति से सुनते रहे। क्या जवाब दे जब सामनेवाला अपने ही तर्क देते चला जा रहा है! जब उनके पास तर्क खत्म हो गये तो बोले - 'महाराज ! कुछ तो कहें !' तो महाराज ने कहा - 'भैया ! एक बात पूछें हम !'

'हाँ पूछें।' उन्होंने कहा।

'ये बताओ, हम कोई पेड़ लगा दें, हमें नहीं मालूम कि वह किस चीज का पेड़ है ? पर यदि वहाँ आम का बीज बोया हैं तो उसमें काहे का पेड़ लगेगा ?'

'काहे का ? आम का लगेगा।'

'यदि उसमें (आम) फल नहीं आयें तब भी क्या आम का ही पेड़ कहलायेगा-?' आचार्य महाराज ने पूछा।

'हाँ, बिल्कुल आम का ही कहलायेगा।'

'उसमें फल तो लगे ही नहीं तब आपने कैसे कह दिया ?'

'उसमें आम के ही फल लगेंगे इसलिए आम का पेड़ कह दिया।'

'हाँ, ये आम का पेड़ है इसलिए इसमें आम के ही फल लगेंगे; आम के फल जिसमें लगेंगे वह ही आम का पेड़ है। हमें भी तुमसे यही कहना है कि हमने तो ये विश्वास किया है कि जब भी मोक्ष का फल लगेगा इसी संयम की बेल में लगेगा। हमें ऐसा दृढ़ विश्वास है। अभी भले मोक्ष न हो रहा हो लेकिन जब भी होगा तब ही इसी वेश से, इसी संयम के द्वारा होगा । क्योंकि -

इस बिना नहिं जिनराज सीझै,
तू रुल्यो जग-कीच में।

'जिनेन्द्र देव भी इस वेश को धारण किये बिना, संयम को धारण किये बिना संसार से पार नहीं होते - ये मेरा दृढ़ विश्वास है, आत्मविश्वास है, अब चाहे तो इसमें

फल अभी लगें या ना लगें। पर मैं तो इसी में विश्वास रखते हुए अपनी साधना करता हूँ।'

बताइये ऐसा दृढ़ विश्वास, ऐसा आत्म-विश्वास हमारे भीतर है ? कैसे आयेगा ? तभी आयेगा जब हम अपने जीवन में इस तरह के संयम को अपनी इच्छा से, स्वेच्छा से अंगीकार करेंगे।

संयम से परिमार्जन

संयम से क्या होता है ? हमारे पुराने संस्कारों का परिमार्जन होता है। हमारे भीतर असंयम के, असावधानी के, लापरवाही के, अव्यवस्थित जीवन जीने के जो संस्कार पड़े हुए हैं वे सब व्यवस्थित और परिमार्जित हो जायें - ये संयम का काम है। संस्कारों को परिमार्जित करने का काम संयम का है।

भर्तृहरि का उदाहरण सभी लोग जानते हैं। वे विरक्त हो गये और जंगल में साधना करने लगे। एक दिन ध्यान में लीन थे। जब आँख खोली तो दिखाई पड़ा कि सामने एक हीरा पड़ा है। चमकता हुआ हीरा। एक क्षण को तो मन डोल गया। इतना बेशकीमती हीरा ! वे हीरे की कीमत जानते थे। अपार सम्पत्ति और वैभव को छोड़कर आये थे। एक क्षण के लिए मन में आया कि मेरे वैभव में उन दिनों ये एक हीरा और होता तो मैं सबसे समृद्ध होता! एक क्षण को मन डोल गया, मुनि होने के बावजूद भी। लेकिन अगले ही क्षण देखते हैं कि एक घुड़सवार इधर से आया, एक घुड़सवार उधर से आया। दोनों की नज़र हीरे पर पड़ी। एक कह रहा है कि पहले मैंने देखा है हीरे को इसलिए हीरा मेरा है, दूसरा कह रहा है पहले मेरी नज़र पड़ी है हीरे पर इसलिए हीरा मेरा है। दोनों की तलवारें निकल गईं पलक झपकते ही, देर न लगी, दो मिनट में ही दोनों के सिर ज़मीन पर पड़े हैं और हीरा ! वह ज्यों का त्यों ज़मीन पर पड़ा है।

संस्कारों का परिष्कार

भर्तृहरि ये सब देखकर फिर ध्यान में लीन हो गये। सोचने लगे - जैसा मेरा मन डोल गया था अगर मैं भी चूक गया होता तो मेरी भी यही दशा होने वाली थी ! संस्कारों की ऐसी प्रबलता को हम हमारे अपने संयम से आसानी से तोड़ सकते हैं। संसार का कितना भी संस्कार क्यों न हो, कैसा ही बुरा संस्कार क्यों न हो यदि हम संकल्पित हो जाते हैं, अपने जीवन में व्रत-नियम-संयम को धारण कर लेते हैं तो हमारे बुरे संस्कार धीरे-धीरे नष्ट होना शुरू हो जाते हैं। संयम एक तरह का स्वस्थ और सन्तुलित जीवन

है - क्या खाना, कैसे खाना, कब खाना, क्या सोचना, क्या करना, क्या नहीं करना ...। आचार्य भगवन्तों ने इतनी ही परिभाषा बनाई है कि - इदं कर्तव्यं - इदं न कर्तव्यं, इदं आचरणीयं - इदं न आचरणीयं, इति प्रतिज्ञाय। और दूसरी परिभाषा बनाते हैं कि व्रत और समिति का पालन करना, अपने मन-वचन और इन्द्रियों को संयमित कर लेना-नियमित कर लेना, नियन्त्रित कर लेना, इसी का नाम संयम धर्म है।

हमारे जीवन में स्वास्थ्य व सन्तुलन न हो तो क्या हमारा जीवन स्वस्थ कहलायेगा ? कौन व्यक्ति होगा जो अस्वस्थ होकर जीवन जीना चाहेगा ? कौन व्यक्ति हैं जो असंतुलित होकर जीवन जीना चाहेगा ? सब चाहते हैं कि मैं स्वस्थ और संतुलित होकर जीवन जीऊँ। इसके लिए संयम जरूरी है। हाँ, स्वस्थ और संतुलित जीवन के लिए संयम जरूरी है। हमें इस बात पर बहुत गौर से विचार करना चाहिये कि हम कैसे खायें ? कब खायें ? चौबीस घण्टे खाते रहें क्या ? मेरे ख्याल से कुछ पशु-जातियाँ भी ऐसी हैं जो चौबीस घण्टे नहीं खातीं। कुछ पक्षी-जातियाँ भी ऐसी हैं जो चौबीस घण्टे नहीं खातीं। फिर क्या हमें भी इस तरह अपने खान-पान, अपने विचार, अपने वचन, अपने मन को संतुलित नहीं करना चाहिये ? क्या चाहे जहाँ चलते-फिरते-घूमते-आते-जाते खाना ? नहीं, शांति से बैठकर, भगवान का स्मरण कर उसके बाद कोई चीज खाना, कोई भी चीज करना। संसार का कोई भी काम हो हम ये चार बातें ध्यान में रखें - कब ? कैसे ? क्यों और क्या ? क्या करना - क्या नहीं करना ? कैसे करना - कैसे नहीं करना ? क्यों करना - क्यों नहीं करना ? हम दुनिया भर की चीजों के बारे में तो ये प्रश्न करते हैं पर अपनी चीजों के बारे में ये प्रश्न नहीं करते ! **जो अपने मन और इन्द्रियों को मलिन करे वह नहीं करना, बाकी सब करना।** जो अपने मन और इन्द्रियों को मलिन करे वह नहीं खाना बाकी सब खाना - क्या हम थोड़ा-सा ऐसा विचार नहीं कर सकते हैं ? कर सकते हैं। यदि हम इतना-सा विचार कर लेवें तो हमारा जीवन आसानी से संतुलित हो जायेगा। जब शरीर से अस्वस्थ हो जाते हैं तब तो विचार करते हैं कि ये मत खाओ नहीं तो तबियत और बिगड़ेगी। और यहाँ चेतना की तबियत रोज बिगड़ रही है तब हम कोई चिन्ता नहीं करते ! शरीर की जरा-सी तबियत बिगड़ जाय तो हमें चिन्ता हो जाती है पर हमारी चेतना न बिगड़ जाये, चेतना का संतुलन न गड़बड़ा जाये - इसके लिए कोई विचार नहीं है ? मैं यह कह रहा हूँ कि इसके लिए हमारे पास कोई विचार होना चाहिए। किसी के कहने से नहीं, हमारे अपने भीतर ये विचार आना चाहिये कि जैसे शरीर की फिक्र है वैसे ही चेतना के उत्थान और पतन के लिए भी तो मुझे फिक्र होनी चाहिये। इन्द्रिय और मन पर नियन्त्रण के मायने ये नहीं है कि आँख पर पट्टी बाँध लें, कान में

कोई कपड़ा ठूस लें ! **इन्द्रिय और मन का सदुपयोग करना, उन्हें ठीक दिशा देना है इन्द्रिय नियन्त्रण।** इन्द्रियाँ घोड़े के समान हैं, घोड़े की सवारी बहुत अच्छी मानी जाती है, और घोड़ा भी तेज-तर्रार होना चाहिये - ऐसे कैसे कि मरियल घोड़ा हो ? ऐसे ही मन को मार लें, इन्द्रियों को नष्ट कर लेवें इससे हमारे जीवन का कोई उद्धार नहीं होने वाला बल्कि मन को ठीक दिशा देवें, इन्द्रियों की लगाम अपने हाथ में रखें फिर देखें कि यात्रा कितनी आसानी से होती है ! घोड़े पर यात्रा करने के लिए जैसे उसकी दिशा व उसकी लगाम हम तय करते हैं ठीक इसी तरह जब हम इन्द्रिय-घोड़े पर सवार होते हैं तब मन इन्द्रियों को दिशा देता है, मन की लगाम अपने हाथ में रहे तो सारा काम आसानी से हो सकता है। मतलब मन में अच्छे विचार करना मन का सदुपयोग करना है, आँखों से अच्छी चीजें देखना आँखों का सदुपयोग है, वाणी से दूसरे के हित की बात कहना और अपने हित के लिए चिन्तित रहना वाणी का सदुपयोग है। हम पाँचों इन्द्रियों का सदुपयोग नहीं करते। तो क्या करते हैं ? मैं सोचता हूँ कि इस समय तो पूजा कर रहे हैं तो मन और इन्द्रिय का सदुपयोग हो रहा है, मन भगवान के चरणों में रखा हुआ है, और हमारे साथ हमारी दृष्टि, पूरा शरीर पूजन में लगा हुआ है। ये ही क्षण तो हैं जब हम अपने मन और इन्द्रियों का सदुपयोग करते हैं, उन्हें नियन्त्रित कर लेते हैं। कोई बहुत कठिन-सी चीज नहीं है यदि हमारे भीतर थोड़ा-सा अभ्यास और विरक्ति - ये दो चीजें आ जायें।

दृष्टि की निर्मलता - सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव

जिसके मन में दृष्टि की निर्मलता है, जिसको सम्यग्दृष्टि प्राप्त हो गई है उसके जीवन में ज्ञान और वैराग्य दोनों ही आ जाते हैं। हमें भी ज्ञान और वैराग्य द्वारा अपने जीवन को नियंत्रित करने का प्रयास करना चाहिए। **ज्ञान वही श्रेष्ठ है जिसमें वैराग्य आ जाये।** दृष्टि वही निर्मल है जिसमें ज्ञान और वैराग्य दोनों का समन्वय बना रहे। इसलिए आचार्य भगवन्तों ने लिखा कि **जो ज्ञान और वैराग्य-दृष्टि से सम्पन्न है वह अपने जीवन को अपने आप संयमित बना लेता है।** वह संयमित होना शुरू करता है तो उसके ज्ञान और वैराग्य की शक्ति बढ़ती चली जाती है।

चौथे काल में हुए मुनि देशभूषण व मुनि कुलभूषण महाराज की कथा सबको मालूम है। बहुत प्रसिद्ध कथा है - अपने पिता की आज्ञा से देशभूषण व कुलभूषण दोनों राजकुमार पढ़ने के लिए गुरुकुल चले गये। गुरुकुल में बारह-पन्द्रह वर्ष अध्ययन करते रहे। गुरुकुल में अध्ययन समाप्त कर राज्य को लौटने का समय आ गया। तब रथ में

बैठकर दोनों साथ-साथ राजमहल को लौटे। महल के निकट पहुँचते-पहुँचते एकसाथ दोनों की दृष्टि अपने महल के छज्जे पर खड़ी एक बेटी की तरफ उठी। दोनों के मन में आया कि ये बेटी चाहे जिसकी हो हम ब्याह करेंगे! कोई बुरी बात नहीं थी यह, इसमें कहीं कोई खोट नहीं था कि हम ब्याह करेंगे! लेकिन इसके बाद खोट आना शुरू हो गया - 'यदि इस ब्याह में भैया भी बाधक बना तो उसको भी समाप्त कर देंगे!' दूसरा भी सोच रहा था कि यदि भैया भी यही चाहेगा तो उसे रास्ते से हटा देंगे! दोनों एक-दूसरे के लिए यही सोच रहे हैं, बस यहाँ आकर जीवन असंतुलित हो जाता है, यहाँ आकर जीवन असंयमित हो जाता है। ऐसा ही उनके साथ हुआ।

और वह बिटिया ! इन्हें नहीं मालूम था कि ये बिटिया कौन है ? माता-पिता ने कहा कि 'बेटी, आओ तो ! देखो तुम्हारे भैया कितने बड़े होकर लौटे हैं! कितने ज्ञानवान होकर लौटे हैं! सबसे पहले तुम ही आरती उतारो इनकी।' वह इनकी माँ से उत्पन्न हुई इनकी ही बहन थी जो इनके गुरुकुल चले जाने के बाद उत्पन्न हुई थी। वह बिटिया आरती उतारने के लिए आगे बढ़ी, दोनों भाई एक क्षण के लिए दंग रह गये! मन हाहाकार कर उठा। बोध जागृत हो गया। अपने हाथों ही अपने रत्न-आभूषण उतार फेंके, रथ से नीचे उतर करके सबसे क्षमायाचना करके जंगल की राह चले गये। सच्ची घटना है ये। लोगों ने कहा - 'ऐसा क्या हुआ ?'

उन्होंने कहा - 'धिक्कार है ऐसे मन को जिस पर इतना भी नियन्त्रण नहीं कि वह भला और बुरा पहचान सके! इतना भी विवेक नहीं कि अपने और पराये को पहचान सके! इतनी अधिक अनियन्त्रित जिन्दगी, इतनी लापरवाही का जीवन जीना तो पसन्द ही नहीं जो विवेक ही न कर सके। अब मुझे बोध जागृत हो गया। यदि बहन पर मेरी दृष्टि विकृत हो सकती है तो मेरा अपने मन पर क्या नियन्त्रण है? ऐसे मन को तो जीतकर ही रहूँगा, ऐसे मन को तो दिशा देकर ही रहूँगा, ऐसे जीवन को दिशा देकर ही रहूँगा! यदि हम एक बार तय कर लेवें कि अपने मन को, अपनी इन्द्रियों को, अपनी वाणी को, अपने जीवन को एक दिशा देनी है, नियन्त्रित करना है, अनुशासित करना है तो हमारा जीवन जरूर संतुलित, नियन्त्रित और स्वस्थ होगा, संयमित होगा। इसी भावना के साथ कि हम अपने जीवन में संयम हासिल करें, अपने जीवन को निरन्तर ऊँचा उठाएँ।

गुरुवर आचार्य विद्यासागरजी महाराज की जय!

❑❑❑

उत्तम तप

- ❑ **विषय-भोग जीवन को जितनी मुश्किल में डालते हैं तपस्या उतनी मुश्किल में नहीं डालती। तपस्या जीवन को आसान बना देती है।**
- ❑ **जिसके मन में निरन्तर इच्छाएँ उठ रही हैं उसका मन कभी नहीं भरता।**

तप—जीवन को तराशना

हम सभी लोग अपने जीवन को अच्छा बनाने की प्रक्रिया पर विचार कर रहे हैं। जीवन को अच्छा बनाना एक तरह से जीवन को तराशना है। जैसे - कोई कलाकार एक पाषाणखंड में से, एक शिला में से जो अतिरिक्त है उसे तराशकर हमारे लिए उसमें से पूज्य वीतराग भगवान की अनुकृति प्रकट कर देता है ठीक इसी तरह हमारे भीतर जो भी दोष हैं, हमारे भीतर जो अतिरिक्त है यदि हम उसको हटाने की प्रक्रिया रोज-रोज करते जायें तो हमारा जो वास्तविक स्वरूप है वह हमारे भीतर अपने आप प्रकट हो जायेगा। इसी आशा से, इसी विश्वास से हम रोज-रोज थोड़ा जो अतिरिक्त हमारे भीतर है, जो विकृति हमारे भीतर है उसे हटाने की प्रक्रिया पर विचार करते हैं और अपने जीवन में जो वास्तविकता है, हमारा अपना स्वरूप है उसे प्रकट करने का रोज-रोज थोड़ा-सा प्रयास करते हैं। वास्तव में ऐसा जो पुरुषार्थ है वही तपस्या कहलाती है जिसमें हम अतिरिक्त को हटाते हैं और हमारा अपना जो वास्तविक स्वरूप है उसको निरन्तर प्रकट करते जाते हैं।

संभावनाएँ और पुरुषार्थ

अपनी अनन्त संभावनाओं को प्रकट करने की जो प्रक्रिया है उसी का नाम तो तप है। तप हम रोज करते हैं लेकिन आज एक विशेष दिन है जब हम इस बात पर अधिक विचार करेंगे कि क्या वास्तव में तप को रोज कर सकते हैं ? या कि तपस्या सिर्फ

साधुजनों के जिम्मे है या कि एक आम व्यक्ति भी अपने भीतर जो अनन्त संभावनाएँ हैं उनको तपस्या के द्वारा प्रकट कर सकता है ? वैसे हमें अपनी अनन्त सामर्थ्य पर विश्वास नहीं है तभी तो हम उसे प्रकट करने के लिए कोई पुरुषार्थ, कोई तपस्या भी शायद नहीं करते! यदि एक बार हमें ये विश्वास हो जाय, ये आशा जाग जाय कि हमारे भीतर बहुत संभावनाएँ हैं तो शायद हम तप करें!

हमने कई बार ऐसा करके देखा है कि जब हमें गुस्सा आने वाला है तब हमने क्षमा धारण कर ली। पहले तो हम सोचते थे कि गुस्सा आ गया, अब आ गया तो आ गया, इसमें किसी का क्या बस ! पर अब हमने देखा कि ऐसा नहीं है। अब गुस्सा आया तो हमने क्षमाभाव धारण कर ली। कभी हमारा अपमान हुआ, हमें बड़ी चोट पहुँची तो हमारा मन कठोर होने-होने को हो गया। पर अब कोई सम्मान करे चाहे अपमान करे, ऐसे कई अवसर जीवन में आये तो भी हमने अपनी मृदुता बनाये रखी। तो अपन ने खुद अपने भीतर झाँककर देख लिया कि हमारे भीतर बहुत संभावनाएँ हैं। ऐसे नहीं है कि कर्म के जोर से या परिस्थितियों की मजबूरी से हमें अपने जीवन को नष्ट कर देना पड़े, ऐसी नियति नहीं है हमारी। हम चाहें तो अपने पुरुषार्थ से अपने भीतर की अनन्त संभावनाओं को प्रकट कर सकते हैं। हमारे भीतर यदि यह विचार पैदा हो जाये तो हमें एक प्रक्रिया शुरू करनी है जिससे हमारे भीतर की अनन्त संभावनाएँ व्यक्त हो सकें। हम जिन्दगी भर कहाँ दूसरों के आगे हाथ फैलाते रहेंगे, अपने जीवन को अच्छा बनाने की प्रक्रिया माँगते रहेंगे ! ठीक है, स्वयं ही अपने भीतर उनको जागृत कर लेवें। जीवन-भर भिखारी बने रहने से अच्छा है कि एक बार अपने भीतर की संभावनाओं को प्रकट करके हम सम्राट की हैसियत से जो कि हमारा स्वरूप है, जीवन जीने की कोशिश करें।

एक उदाहरण है - एक बहुत गरीब व्यक्ति था। रास्ते के किनारे बैठा भीख माँगा करता था। लोग दया करके उसे कुछ न कुछ दे दिया करते थे। पूरी जिन्दगी उसकी भीख माँगते गुजर गई और एक दिन वह नहीं रहा। दस-पन्द्रह लोगों ने जैसे-तैसे करके उसका दाह-संस्कार किया। जिस स्थान पर बैठकर वह भीख माँगता था वह जगह उसके निरन्तर वहाँ बैठे रहने से थोड़ी खराब हो गई थी। लोगों ने सोचा थोड़ी सफाई कर दें यहाँ। सफाई करने के दौरान उन लोगों को लगा कि जमीन के भीतर कोई चीज है। उसे निकाला तो सोने के सिक्कों से भरा एक घड़ा था जिसके ऊपर बैठकर वह जिन्दगी भर भीख माँगता रहा!

कहीं ऐसा तो नहीं कि हमारे साथ भी ऐसा ही कुछ हो! यह तो एक उदाहरण है। कहीं ऐसा तो नहीं कि हमारे भीतर भी ऐसी ही शक्ति विद्यमान हो और हम हाथ फैलाकर

दूसरों के सामने भीख माँग रहे हों कि हमारी शुद्धि का उपाय बतायें ! हमारे जीवन के उत्थान का उपाय बतायें! साहित्यकार अज्ञेय (सच्चिदानंद वात्स्यायन अज्ञेय) ने लिखा है -

सबके भीतर होता है एक झरना,
स्वच्छ उज्ज्वल जल का,
इस इंतज़ार में
कि कोई आये-
ऊपर की परतें हटाये
और धार एक नई बहाये।

हम सबके भीतर है ऐसी क्षमता लेकिन केवल इतना है कि क्षमता को प्रकट कैसे करें ? इस क्षमता को प्रकट करने के लिए आचार्य भगवन्तों ने जो उपाय बताया है वह है 'तप'। 'तप' शब्द सुनने से हमारे मन में एक भ्रम पैदा होता है क्योंकि एक परम्परागत भ्रम हमारे मन में बैठा हुआ है कि 'तप' के मायने है बहुत कठिनाई का जीवन जीना। जबकि मैं सोचता हूँ कि तपस्या करने के मायने है जिन्दगी को बहुत आसानी से, बहुत स्मूथली (आसानी से, निर्बाध) जीना। बड़ा अजीब लगेगा कि क्या तपस्या से लाइफ स्टाइल (जीवन शैली) बहुत स्मूथ (आसान, निर्बाध) हो सकती है? हो सकती नहीं, हो ही जाती है।

इच्छाएँ कम करें

हमारे अन्दर इतनी इच्छाएँ हैं, उन इच्छाओं की पूर्ति करने में हम कितनी मुश्किलें अपने जीवन में खड़ी कर लेते हैं! यदि हम अपनी इच्छाओं को कम कर देवें तो वे मुश्किलें आसान हो जायेंगी। इच्छाओं को जीत लेने का नाम ही तो तप है। अब बताइये - हमने अपनी मुश्किलों को आसान करने के लिए अपनी इच्छाओं को जीत लिया है तो जीवन आसान नहीं हो जायेगा? तपस्या तो जीवन को आसान बनानेवाली चीज है। हम अपनी इच्छाओं की पूर्ति की वजह से मुश्किलें खुद खड़ी करते हैं और दोष देते हैं कि मुश्किलें तो तपस्या में हैं। तपस्या इच्छा की पूर्ति के लिए है। अपने अन्दर बहुत सारी डिजायर्स (इच्छाएँ, आकांक्षाएँ) हैं, इम्पॉसिबल डिजायर्स (असंभव इच्छाएँ, आकांक्षाएँ) जो कभी पूरी नहीं हो सकतीं। बहुत सारी डिजायर्स (इच्छाएँ, आकांक्षाएँ) हैं जो लग्जीरियस (विलासमयी) हैं जो कि अनावश्यक हैं, जो जरूरी नहीं हैं जीवन में। बहुत सारी इच्छाएँ मॅटिअरिलिस्टिक (भौतिकवादी, सांसारिक, विषयी)

भी हैं। कितनी तरह की इच्छाएँ हैं हमारे भीतर ? क्या उन सबकी पूर्ति के लिए हमारा जीवन बनाया गया है ? विचार करना चाहिए - हमारी किन आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए ? जो चीज हमारे जीवन में संभव है उसकी पूर्ति होनी चाहिए। ये इच्छा वाज़िब लगती है और इन इच्छाओं की पूर्ति संभव नहीं है - ये विचार करना चाहिए। जिन इच्छाओं की पूर्ति संभव नहीं है उन इच्छाओं को अपने जीवन में उत्पन्न करना और फिर उनकी पूर्ति के लिए बेतहाशा भागना - अपने जीवन में खुद अपने हाथ से मुश्किलें खड़ी करना है। किसी को क्या दोष दें ? अपन ने खुद खड़ी की हैं ये मुश्किलें। जैसे - हमें/सबको मालूम है कि दुनिया में सबसे बड़ा हीरा है - 'कोहेनूर'। एक ही है वह। अब हर आदमी उस 'कोहेनूर' हीरे को पाने की इच्छा करे और उसको पाने के लिए अपना पूरा जीवन खपा दे, ये व्यर्थ मुसीबत मोल लेना है। ऐसे बहुत सारी इच्छाएँ ऐसी हैं जो कि हमारी आवश्यकता से अधिक हैं, हमारे लिए तकलीफ पहुँचानेवाली हैं लेकिन हम उन इच्छाओं को भी करते हैं और उनकी पूर्ति के लिए अपने जीवन को लगाये रखते हैं। आप स्वयं विचार कर लें। जैसे - मान लीजिएगा हमारे पास हमारे अपने जीवन को चलाने के लिए दस-बीस-पचास-सौ कपड़े चाहिए और हमने रखे हैं - हजार-दो हजार; क्या वे एकसाथ, एक बार में शरीर पर पहने जा सकते हैं ? हम कोई चक्रवर्ती तो हैं नहीं कि हममें छियानवें हजार रूप बनाने की सामर्थ्य हो। हमें एक ही शरीर मिला हुआ है, एक शरीर पर एक बार में एक ही कपड़ा पहन सकते हैं। ज्यादा चाहो तो ठंड के दिनों में दो-तीन पहन लो लेकिन रखे तो सैकड़ों हैं! शरीर एक ही है तो एक शरीर की पूर्ति के लिए कितनी आवश्यकता है - इसका निर्धारण हम कर लें। यदि सौ शरीर हैं तो सौ की पूर्ति करेंगे पर शरीर तो एक ही है। क्या इस तरह हम अपनी आवश्यकताओं को नहीं पहचान सकते ? हम अपनी आवश्यकताओं को नहीं पहचानते इसी वजह से हम अपने जीवन में मुश्किलें खड़ी करते हैं। लॅग्जीरियस (विलासी, आरामतलबी) होते जाते हैं हम, बहुत आरामतलबी सीख रहे हैं। **आरामतलबी ही जीवन को मुसीबत में डालती है।** सोचते ये हैं कि आरामतलबी से जीवन आसान बनेगा लेकिन आज तक नहीं बना - सबका अनुभव है यह। हमें विचार करना चाहिए कि हम ऐसी इच्छाओं को छोड़ दें।

कुछ ऐसी इच्छाएँ हैं जिनसे सिर्फ इन्द्रिय और मन का पोषण होता है, पेट भले ही न भरे। मन भरने की जो इच्छा है वह हमको बहुत मुश्किल में डाल देती है। क्या कभी किसी का मन भरा है ? जिसके मन में संतोष हो उसका मन तो पूरा भरा है। जिसके मन में निरन्तर इच्छाएँ उठ रही हैं उसका मन तो कभी नहीं भरता तब क्यों न हम

अपनी भौतिक इच्छाओं की पूर्ति से हटकर अपने जीवन को ऊँचा उठानेवाली भावनाएँ और दूसरों के जीवन को भी ऊँचा उठानेवाली परोपकार की भावनाएँ अपने भीतर डेवलॅप (विकसित) कर लेवें! ये भी तपस्या है। तपस्या को यदि इस तरह हम अपने जीवन में लावें तो कोई बहुत मुश्किल चीज नहीं है।

तपस्या का उद्देश्य

'तप' नाम सुनते ही हम गड़बड़ी में पड़ जाते हैं। एक चीज और - हमने तपस्या का बहुत परम्परागत ढंग बना दिया। बहुत सारे लोग हैं जो इन दिनों तपस्या कर रहे हैं। किसी का उपवास तो किसी का एकासना चल रहा है, कोई रस-परित्याग इत्यादि कर रहा है। बहुत अच्छी चीज है, ये भी तप का एक ढंग है। लेकिन इसका उद्देश्य क्या होना चाहिए? कभी इस पर विचार किया ? जब हम उद्देश्य से विचलित हो जाते हैं तब ये तपस्या हमारे लिए कोई काम की नहीं और न ही दूसरे को इससे तपस्या का कुछ उद्देश्य महसूस होता।

एक व्यक्ति ने बारह वर्ष तक तपस्या की। बारह साल तपस्या करने के बाद गुरुजी ने पूछा - 'क्या हासिल किया ?'

उस शिष्य ने कहा - 'हमने वह विद्या हासिल की जिससे हम जल पर भी आसानी से चल सकते हैं।'

'दो कौड़ी की तपस्या हुई तुम्हारी।'

'क्यों ?'

'अरे, दो कौड़ी (पैसे) देते उस नाववाले को तो वह इधर से उधर कर देता तुम्हें। बेकार में बारह वर्ष परेशान होते रहे।'

पानी पर चलने की विद्या हासिल कर ली, पर उद्देश्य क्या ?

आचार्य भगवन्तों ने लिखा - 'कर्मक्षयार्थं तप्यते इति तप:।' अर्थात् कर्मों के क्षय के लिए, कर्मों की निर्जरा के लिए, अपने जीवन में अज्ञानतावश जो विकृतियाँ हो गई हैं उन विकृतियों और विकारों को हटाने के लिए, कषायों को मंद करने के लिए, अपनी दृष्टि को निर्मल करने के लिए तपस्या की जाती है। अगर तपस्या का ऐसा उद्देश्य है तब तो तपस्या सार्थक है वरना वह तपस्या न हमारे जीवन को ऊँचा उठा पाती न उससे कोई मैसेज (संदेश) मिलता है। वर्तमान में हम देखते हैं कि हमारी युवा पीढ़ी इसी वजह से इस तपस्या से विमुख है। हमने अपनी इन्द्रियों को तो जीता नहीं और बहुत सारी चीजें (क्रियाएँ) शुरू कर दीं। पुष्पडाल और मुनि वारिषेण का उदाहरण है, सब

परिचित हैं उससे। पुष्पडाल मुनि वारिषेण के बचपन के मित्र थे। वे बारह वर्ष तक मुनि वारिषेण के साथ मुनि बनकर विचरण करते रहे लेकिन मन के भीतर आकांक्षाएँ बनी रहीं।

आचार्य शुभचन्द्र व भर्तृहरि दोनों भाई थे, राजा के बेटे। अपार वैभव व सम्पत्ति के बीच पले हुए थे। शुभचन्द्र तो मुनि बन गये और भर्तृहरि तपस्वी हो गये। भर्तृहरि ने तपस्या कर एक घड़ाभर रसायन सिद्ध किया जिसे लोहे पर डालो तो वह सोना हो जाये। एक दिन उन्हें खबर मिली कि बड़े भैया शुभचन्द्र नग्न फकीर की तरह जीवन बिता रहे हैं। बड़ी मुश्किल से जीवन व्यतीत कर रहे हैं - ऐसा मालूम हुआ। भोग-विलास से युक्त, आकांक्षाओं से युक्त व्यक्ति को त्याग-तपस्या करनेवाला व्यक्ति दीन-हीन और गरीब मालूम पड़ता है। भर्तृहरि को भी शुभचन्द्र के लिए ऐसा ही लगा। उन्होंने अपने शिष्यों के साथ आधा घड़ा रसायन भिजवाया - 'जाओ, दे आओ भैया को, रईस हो जायेंगे वे!' शिष्य रसायन लेकर पहुँचे।

शुभचन्द्र ने कहा - 'मेरे किस काम का ? यहाँ मिट्टी में डाल दो।'

शिष्यों ने कहा कि 'लगता है दिमाग भी थोड़ा-सा गड़बड़ा गया है!'

अगर कोई अपनी इच्छाओं को शान्त कर लेवे और संतोषपूर्वक जीवन जीवे तो लगेगा कि बहुत बैकवर्ड परसन (पिछड़ा व्यक्ति) है, बहुत पुराने जमाने का, पन्द्रहवीं शताब्दी का आदमी आ गया ये। इक्कीसवीं शताब्दी में तो प्रगति के मायने ही ये हैं कि दौड़ो, दौड़ो, एक अंधी दौड़ में शामिल हो जाओ और एक दिन ठोकर खाकर गिर जाओ, जो हासिल किया वह सब दूसरे के मत्थे छोड़ जाओ। और क्या, अंधी दौड़ के मायने क्या होता है ? यही होता है कि अपने जीवन में जो हासिल किया उसका स्वयं अपने जीवन में तो कुछ उपयोग नहीं कर पाये और दूसरे के माथे पर डाल कर चले गये।

शिष्यों ने आकर भर्तृहरि को बताया तो उन्होंने सोचा- 'कोई बात नहीं, हो गया होगा ऐसा, बहुत दिनों से तकलीफ में थे तो दिमाग में गर्मी चढ़ गई होगी!' भर्तृहरि कुछ रसायन लेकर खुद गये। शुभचन्द्र ने कहा -'क्या लेकर आये हो ? क्या इसी के लिए घर छोड़ा था ? क्या घर में कमी थी सोने-चाँदी की जो तुमने यह विद्या सिद्ध कर ली ?'

अब तो भर्तृहरि ने बिल्कुल पक्का समझ लिया कि गये भैया काम से। शुभचन्द्र ने वह शेष रसायन भी वहीं गिरवा दिया। बहुत दुःखी हुए भर्तृहरि मन में - 'इतनी तपस्या कर यह रसायन सिद्ध किया था और इन्होंने पूरा गिरवा दिया!' पर ये बड़े भैया हैं, इनके प्रति विनय थी इसलिए कुछ नहीं कहा। पर फिर भी पूछा - 'आपने क्या हासिल किया जिसको हासिल करने के बाद आपने इस रसायन को ठुकरा दिया ?'

'जानना चाहते हो क्या हासिल किया ?' शुभचन्द्र ने पूछा। उन्होंने (शुभचन्द्र ने) एक चुटकी धूल उठाकर पास के पर्वत पर डाल दी। सारा पर्वत सोने का हो गया। कहने लगे - 'ले जाओ इसे, ट्रेजेरी (खज़ाने) में रख लेना, ले जाओ उठाकर। क्या इसी के लिए छोड़ा था सब ?'

तपस्या—भेदज्ञानपूर्वक

तपस्या इसके लिए नहीं होती कि कल के दिन मुझे कोई मान-सम्मान मिलेगा, मुझे यश और वैभव मिलेगा। ऐसी तपस्या करनेवालों की संख्या आज के समय में कम नहीं है। अपने शरीर को सताना तपस्या नहीं है। अपने शरीर से अपनी आत्मा को पृथक समझने के लिए है तपस्या। भेद-विज्ञानपूर्वक की जानेवाली तपस्या ही सार्थक होती है, वह अपने जीवन को भी और दूसरे के जीवन को भी एक मैसेज (संदेश) देती है। जिस तपस्या से हम अपने अहंकार का पोषण करते हैं वह राजसिक तप कहलाता है, मेरे जैसी तपस्या करनेवाला कोई नहीं है! जो तपस्या शास्त्र व गुरु की आज्ञा के विरुद्ध की जाती है वह तामसिक तपस्या कहलाती है। आज इस तरह की तपस्या करनेवालों की संख्या भी बहुत है। जो तपस्या शास्त्र की विधि और गुरु की आज्ञा के द्वारा की जाती है वह सात्विक तपस्या है। शास्त्र हमारी तपस्या में होनेवाली भूल-चूक से बचाते हैं। गुरु तपस्या के दौरान साथ खड़े होकर हमारा कॉन्फीडेंस (विश्वास) बढ़ाते हैं, सिखाते हैं कि 'ध्यान की विधि ये है, मैंने इसे करके देखा है, तुम भी करके देखो, थोड़ी मुश्किल आयेगी लेकिन फिर आसानी हो जायेगी। तुम्हारे जीवन की मुश्किलें कम हो जायेंगी। तपस्या शुरू-शुरू में थोड़ी मुश्किल मालूम पड़ेगी। लेकिन वास्तविक तपस्या शुरू होने के बाद फिर जितनी मुश्किलें थीं जीवन में वह सब आसान होना शुरू हो जायेंगी। तपस्या तुम्हारे लिए बहुत सहज कला है' - ये कॉन्फीडेंस (विश्वास) दिलाते हैं गुरु। इसलिए लिखा है कि सात्विक तप वह है जो शास्त्र की विधि व गुरु की आज्ञा से किया जाय।

मुझे याद है सन् अठहत्तर की घटना, हम अपने गृहस्थ जीवन में थे और आचार्य महाराज के चरणों में जाया करते थे। उस समय संघ में तीन-चार क्षुल्लक जी थे जो आचार्य महाराज के चरणों में तपस्या करते थे। उनमें से सबसे बड़े थे समयसागर जी महाराज, उसके बाद योगसागर जी महाराज फिर नियमसागर जी महाराज, ये सब हमसे बड़े महाराज हैं । समयसागर जी महाराज बहुत उपवास किया करते थे, हर अष्टमी-चतुर्दशी को उपवास करते थे। सप्तमी को ही उपवास ले लेते थे, त्रयोदशी आते ही उपवास ले लिया लेकिन गुरु से पूछकर और पूछने की भाषा होती थी - 'भगवन् ! मेरा

मन उपवास करने का है, यदि आपकी आज्ञा हो तो'... हाँ, मैंने अपना मन नहीं बनाया है, अभी सोचा है यदि आपकी आज्ञा हो तो। ऐसा ही निवेदन किया उन्होंने। आचार्य महाराज ने कहा - 'ऊनोदर करना।' बहुत दिनों से उपवास करते आ रहे थे इसलिए कहा 'ऊनोदर करना।' उपवास से ज्यादा कठिन है 'ऊनोदर', जाकर भोजन के सामने बैठना और उसमें से थोड़ा-सा लेकर आ जाना, हो सकता है केवल एक ग्रास लेकर वापस आ जाना। ये तपस्या ज्यादा कठिन है क्योंकि भोजन सामने देखने से भूख की उदीरणा हो जाती है। जैसे ही उन्होंने आचार्य श्री से उपवास माँगा उन्होंने कहा - 'तुम कल ऊनोदर कर लेना।' 'ठीक है, जैसी आपकी आज्ञा।'

दूसरे नियमसागर जी महाराज ने देखा कि इन्हें ऊनोदर की कह रहे हैं तो अपन भी ऊनोदर ही माँग लो। बोले -'महाराज ! हम भी ऊनोदर कर लेते हैं!' 'नहीं, तुम उपवास कर लो।'

आप अपनी इच्छा से तपस्या कर रहे हैं, अहंकारवश कर रहे हैं, शास्त्र की विधि और गुरु की आज्ञा से कर रहे हैं कि नहीं कर रहे ? इन सबकी जानकारी गुरु को होती है। **गुरु की आज्ञा से किया गया तप ही जीवन को ऊँचा उठाता है।** बिल्कुल एक माँ की तरह जानते हैं गुरु। जैसे कि एक माँ जानती है कि बड़े बेटे को पढ़ना पड़ता है तो वह उसके दूध में मलाई डाल के देती है और छोटेवाले बेटे को जो जिद करता है कि 'भैया को तो मलाई डाल के दिया है, मुझे भी', उसे कहती है - 'तुम थोड़ा पानी मिलाकर पीओ। इतना ही पचेगा, नहीं तो गड़बड़ हो जायेगा सब।' ऐसा समझा देती है। ऐसे ही गुरु जानते हैं कि हमारी शक्ति क्या है ? हमारी सामर्थ्य क्या है ?

तप बनाये जीवन आसान

असल में हमारे जीवन में मुश्किल खड़ी करने का नाम तप नहीं है। बल्कि हमारे जीवन में आसानी हो जाये, विषय-भोग में जो हमारा जीवन मुश्किल में पड़ा हुआ है उसे भोग से विरक्त करके जीवन को आसान बना दे। हमारे जीवन को विषय-भोग जितनी मुश्किल में डालते हैं तपस्या उतनी मुश्किल में नहीं डालती। तपस्या का अभ्यास न होने की वजह से वह शुरू में थोड़ी-सी मुश्किल लगती है लेकिन जैसे ही हम उसको अपने जीवन में किसी गुरु के सहारे, अर्थात् विधि के अनुरूप शुरू कर देते हैं फिर वह तपस्या बहुत आसान हो जाती है। ऐसी है तपस्या। हमें उसे ठीक-ठीक समझकर उससे अपने जीवन में लाभ ले लेना चाहिए और वाणी का तप, मन का तप, शरीर का तप हमेशा करते रहना चाहिए। आचार्य भगवन्तों ने लिखा कि शरीर से झुकना, भगवान की

पूजा करना, गुरुजनों का सम्मान करना, दूसरों की मदद करना - ये शरीर के तप हैं। हाँ शरीर से झुकना, भगवान की पूजा करना - ये भी तप हैं। सुबह छः बजे से लगातार यहाँ बैठे हैं, पूजा कर रहे हैं अभी साढ़े नौ बज रहे हैं, क्या ये तपस्या नहीं है ? जीवन आसान बन गया कि नहीं ? दुनियाभर की चीजें याद आ रही हैं क्या इस समय ? मुश्किलें याद आ रही हैं क्या ? पर अब जायेंगे तो मुश्किलें भी याद आ जायेंगी - ये करना है, वो करना है! पर अभी कितना आसान लग रहा है! तपस्या आसान बना देती है जीवन को, मुश्किलों से थोड़ी देर तो बचा देती है। शरीर का तप भी जरूरी है। शरीर के तप के मायने ये नहीं है कि धूप में बैठ जावें। शरीर के तप के मायने है कि हम शरीर से भगवान के प्रति विनय व्यक्त करें, पूज्य पुरुषों के प्रति विनय व्यक्त करें। अपनी पाँचों इन्द्रियों और मन को भगवान की सेवा में लगा दें, दूसरे जीवों की मदद करने में लगा दें। ये है शरीर का तप।

वाणी का तप है - हमेशा मधुर वचन बोलना, प्रेम से भरकर वचन बोलना, सत्य वचन बोलना। इतना ही नहीं, हमेशा जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए वचनों को रिवाइज़ (दोहराना) करते रहना, रिपीट (दोहराना, आवृत्ति) करते रहना। जब दो लोग मिलकर बैठते हैं तो क्या चर्चा करनी चाहिए ? 'आज 'सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' सूत्र पर विचार किया क्या ? मैंने ऐसा सोचा है कि इसके मायने ये भी होना चाहिए।' बैठकर ऐसे कभी नहीं बोलेंगे, हाँ, ऐसा जरूर बोलेंगे - 'तुमने सुना, आज वहाँ किसी की ज़ेब कट गई!' वाह भैया ! इसके लिए मिली थी वाणी ? वाणी का तप करना है तो अपने मुँह से सूत्र-वचन, मधुर वाणी बोलना चाहिए।

संक्लेश से बचें - प्रसन्न रहें

मन का तप है - मन में हमेशा अच्छे विचार करना/रखना, मन की प्रसन्नता बनी रहे इस बात का ध्यान रखना। जो व्यक्ति सुख और दुःख में अपनी मन की प्रसन्नता को नहीं खोता मानियेगा वह अपने मन का तप कर रहा है। आज मन से तप बहुत कम लोग करते हैं। शरीर से तप, शरीर तपानेवाला तप, शरीर झुकाकर विनय करना, पूजा-पाठ करना ये तो बहुत कम है। दूसरे की मदद करना, यहाँ कोई मुश्किल से चल पा रहा हो तो उसका हाथ पकड़कर उसे बाहर तक ले जाना - ये तो बहुत कठिन है, आज तो हमारा उपवास है, आज थोड़े कुछ कर सकते हैं और मदद नहीं करते। आचार्यों ने लिखा है कि - दूसरे की वैयावृत्ति/सेवा करना, जो तपस्वी हैं उनकी सेवा करना, जो निरन्तर अपने आत्म-कल्याण में लगे हुए हैं उनकी सेवा करना, सामान्यजन की सेवा

करना, साधर्मी की सेवा करना, ये सब शरीर के तप हैं और साथ में मन की प्रसन्नता हमेशा बनी रहे वर्ना तो हमारी जितनी भी स्थितियाँ बनती हैं हम उनमें संक्लेश कर लेते हैं, यदि स्थितियाँ हमारे अनुकूल बन जाती हैं तो अहंकार करने लगते हैं कि देखा मेरा प्रभाव ! लेकिन ये मन का तप नहीं है, ये तो मन को मुश्किल में डालना है। जैसी स्थिति आज है वैसी कल नहीं रहेगी तो मन संक्लेश पायेगा। आज जितना अहंकार कर रहे हैं कल उसी चीज की अनुपस्थिति में संक्लेश होगा। जीवन को हम खुद मुश्किल में डालते हैं। यदि हमने एक बार यह विचार कर लिया कि मन की प्रसन्नता नहीं खोयेंगे तो फिर देखियेगा कि कैसे हम अपने जीवन में आसानी से सत्य को अंगीकार नहीं कर पाते! तपस्या ऐसी ही है भैया ! शरीर से भी, मन से भी, वाणी से भी रोज-रोज ऐसी तपस्या करने के लिए अभ्यास करना चाहिए जिससे हमारी कर्मों की निर्जरा होती रहे।

स्व-पर-कल्याण की भावना तप है

आचार्य भगवन्त हम लोगों को हमेशा इस तरह की तपस्या के लिए प्रेरणा देते रहते हैं। जब बार-बार देखते हैं कि ये लोग कैसा कर रहे हैं तो उनके मुँह से निकलता है - 'भैया ! और चाहे जो करो पर राग-द्वेष मत करना।' उनके मुँह से निकली हुई बातें सुनकर लगता है कि सचमुच वास्तव में हमें कोई तपस्या करनी है तो वह यह है कि राग-द्वेष नहीं करना, और प्राणिमात्र के प्रति हमारे मन में दया और करुणा का भाव हमेशा भरा रहे। अगर हमने अपने जीवन में ऐसा कर लिया तो हमारी तपस्या वास्तविक तपस्या कहलायेगी। हमारा भी कल्याण - दूसरे का भी कल्याण, ऐसे स्व-पर के कल्याण की भावना से मन-वाणी (वचन) से जो कुछ भी किया जाता है वह सब तपस्या बन जाता है।

आचार्य महाराज जी के जीवन की एक घटना सुनाने का मन कर रहा है। बहुत विश्वास है मुझे अपने आचार्य महाराज पर, जब-जब भी मुश्किल आती है - समाधान मिलता है। आज भले ही शरीर में अपेक्षाकृत तकलीफ अधिक थी लेकिन मन बहुत प्रसन्न था क्योंकि आज सुबह-सुबह सामायिक से पहले दस-पन्द्रह मिनट में स्वप्न में आचार्य श्री के बहुत अच्छे-से दर्शन हो गये। वे जिस तरह की तपस्या कर रहे हैं अपने शरीर से भी और अपने गुरु के प्रति उनके मन में कितनी विनय है - ऐसे साधक बिरले ही देखे हैं। उनकी तपस्या हमेशा निर्जरा करने के लिए होती है। हमने ऐसे साधक बिरले ही देखे हैं जो हमेशा कर्मों की निर्जरा करने के लिए तत्पर रहें। जो कर्मों की निर्जरा में तत्पर है वह कुछ भी करता है वह सब तपस्या कहलाती है। कई उदाहरण हैं उनके जीवन के।

मन की प्रसन्नता भी तप है

एक बार हम लोग विहार कर रहे थे। गन्तव्य स्थान पहुँचने में देर हो गई, नियत स्थान पर नहीं पहुँच पाये, जब एक किलोमीटर की दूरी शेष रह गयी तभी अँधेरा हो गया। रास्ता भटक जाने से समय पर नहीं पहुँच सके। वहीं एक खेत में रुक जाने का चाँस (अवसर) लिया। ज्वार का खेत था, वहाँ उन लोगों ने सामान रखने के लिए एक स्थान बना रखा था जो एक साइड से और ऊपर से खुला था। सिट्टे की कड़बी से बना था वह। उस समय हम ग्यारह साधु थे। सारा संघ वहीं जाकर बैठ गया। हम उस समय क्षुल्लक थे, लंगोट थी, चद्दर थी तो बैठने में कुछ अहसास नहीं हुआ लेकिन जो दूसरे महाराज थे वो बैठने के बाद थोड़ा-थोड़ा विचलित हो रहे थे, आसन हिल रहा था, नहीं तो आसन तो दृढ़ रहता है! मैंने सोचा - 'क्या बात है ? ऐसा क्यों हो रहा है ? अपन भी ऐसे ही बैठें।' और मैं भी कपड़े उतार कर बैठ गया, तब समझ में आ गया कि ये नीचे से बहुत चुभ रहा है। फिर भी सब बैठ गये, सामायिक कर लिया। धीरे-धीरे वहाँ पर मच्छर आना शुरू हो गये, क्योंकि वहाँ थोड़ा गीलापन था। दिसम्बर का महीना था। जब चलकर आये तो शरीर में गर्मी थी पर अब तो धीरे-धीरे ठंड बढ़ने लगी। रात नौ-दस बजे अच्छी-खासी ठंड हो गई और उसके साथ ही मच्छरों का साम्राज्य। लेटने का मन हुआ तो लेट तो गये पर करवट भी नहीं बदल सकते थे। इतने में ढूँढते-ढूँढते कि आचार्य श्री कहाँ रह गये ? श्रावकगण भी आ गये। उन्होंने देखा, पर समझते थे - जानते थे कि अब तो कुछ नहीं हो पायेगा। चटाइयाँ आदि भी उस नियत स्थान पर पहुँच गई थीं जहाँ हमें पहुँचना था, पर हम नहीं पहुँच पाये वहाँ पर। श्रावकों ने देखा कि ज्वार के सिट्टे (डंठलसहित) पड़े हैं, थोड़ी तो ठंड कम होगी इनसे, यह सोचकर उन्होंने हम लोगों पर ऊपर से सिट्टे डाल दिये। उन्होंने तो अच्छे के लिए किया पर एक तो उनका बोझ और फिर वे चुभ भी रहे थे। बड़ी बमुश्किल रात निकली। सुबह सामायिक करने उठें तो उठें कैसे ? इतना भारी वजन कि उठ ही नहीं सकते। कोई हटायेगा तब उठेंगे! हाँ, ऐसी स्थितियाँ भी आई हैं। उस समय तो सिर्फ आचार्य महाराज को पाटा मिल गया तो मिल गया और अब इस समय तो स्थिति यह है कि कमरे में जाओ तो पाटा तैयार, वहाँ जाओ तो दौड़कर आ रहा है पाटा, इतनी फैसेलिटीज (सुविधाएँ) कि तपस्या-वपस्या तो बस ठीक ही है। हाँ, साफ कहने में कुछ दिक्कत नहीं है, जैसा कर रहे हैं वह सबको दिख रहा है। पहले तो जमीन पर ही, चटाई भी नहीं तो कोई बात नहीं, ज़मीन पर ही बैठ जाया करते थे। अब बड़े हो गये महाराज साहब तो पाटे लगेंगे! क्या बड़े होने का

मतलब है कि तपस्या (वपस्या) क़म हो जावे आराम ज्यादा हो जावे ? हाँ, लोगों को यही है कि पूरी फैसेलिटीज (सुविधाएँ) हों। हाँ, तो उस समय तो कुछ नहीं था, रात निकल गई, लेटे-लेटे ही सामायिक कर ली। जब श्रावक आये, उन्होंने ऊपर से वह सब हटाया तब उठे। उठे तो मन में बहुत बेचैनी थी क्योंकि इतनी साधना तो थी नहीं लेकिन जब आचार्य श्री की तरफ देखा तो वे मुस्करा रहे थे ! कुछ नहीं बोले वे। हमारे मन में तो आ रहा था कि शायद श्रावकों को बोलेंगे कि तुम ऐसे क्या करते हो ? पर वे तो चुप, मुस्करा रहे हैं। फिर सब विहार करने लगे।

आचार्य श्री का शरीर बहुत नाजुक व कोमल है, कलर फेयर (गोरा रंग) होने से पूरे शरीर पर सिट्टों की चुभन के निशान स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। जब धूप निकली - सूरज की किरणें फैलीं तो उनमें चुभन भी होने लगी, अपन को जलन लग रही थी इसलिए लग रहा था कि उन्हें भी लग रही होगी। लेकिन इसके बाद भी आचार्य श्री उतने ही प्रसन्न। वे चलते-चलते भी जान रहे थे कि इनके परिणाम कैसे हो रहे हैं ? पता है उन्होंने क्या कहा -'देखो ! श्रावकों की अज्ञानता पर न दुःखी होना, न संक्लेश करना बल्कि उन्हें धन्यवाद देना कि उन्होंने हमें तपस्या के लिए, कर्मों की निर्जरा के लिए ऐसे अवसर दिये!' इतनी बड़ी बात कही! ये बात आज भी मुझे ध्यान आती है। ऐसे साधु तपस्वी ही कहलायेंगे जिन्होंने तमाम मुश्किलों में अपने मन को प्रसन्न रखकर अपने परिणामों को आसान बनाया। मन का तप मन की प्रसन्नता है जो कि बाहर की परिस्थितियों की विपरीतता में भी खंडित नहीं होती।

बनें काया से विनयी, वाणी से मृदु

क्या हम लोग अपने जीवन में इस तरह के तप का अभ्यास करना पसन्द करेंगे ? जरूर से करेंगे। हमें आज ही से ऐसी तपस्या शुरू कर देनी चाहिए। बिल्कुल कठिन नहीं है। बहुत आसान है कि हम अपने मन को बाहर की विपरीतताओं में भी प्रसन्न रखेंगे। हम अपने शरीर से हमेशा विनयवान रहेंगे, दूसरों की विनय करने को तत्पर रहेंगे। जब भी वाणी बोलेंगे खट्टे और कड़वे मन से नहीं बोलेंगे, हमेशा वाणी की मधुरता बनाये रखेंगे, जब भी बोलेंगे आगम की वाणी बोलेंगे। अगर एक-एक क्षण रोज इस तरह का प्रयास करें तो ये तप हमारे जीवन को अच्छा बनाने में मदद करेगा, इसी भावना के साथ -

गुरुवर आचार्य विद्यासागर जी महाराज की जय

❑❑❑

उत्तम त्याग

- ❑ **अवगुणों को छोड़ने का मन बना लें, उन्हें ग्रहण न करें, इसी का नाम त्याग है।**
- ❑ **परिग्रह को नियन्त्रित करने का नाम ही दान है। देनेवाला लेनेवाले को अपने से बड़ा मानता है तब वास्तव में त्याग धर्म सफल होता है।**

अवगुणों में आसक्ति छोड़ें

हम सभी लोग इस दशलक्षण महापर्व के निमित्त से अपने जीवन को अच्छा बनाने की प्रक्रिया पर विशेष रूप से विचार कर रहे हैं। वैसे तो अच्छा बनाने के विचार की यह प्रक्रिया, विचार की यह यात्रा हम बहुत दिनों से एकसाथ मिल-बैठकर कर ही रहे हैं पर ये (दशलक्षण पर्व) विशेष अवसर है और हमने पिछले दिनों अपनी क्षमता भी बढ़ाई है। हमने अपने भीतर जो भी बुराइयाँ हैं उनको हटाने के लिए प्रयत्न भी किये हैं और ऐसे प्रयत्नों में हमारे भीतर गुणवत्ता भी बढ़ी है। वास्तव में किसी भी पर्व की, किसी भी आयोजन की या मैं तो सोचता हूँ कि हमारे अपने जीवन की सार्थकता इसी बात में है कि हमारी गुणवत्ता बढ़ती चली जाये और हमारे भीतर से अवगुण निकलते चले जायें। किसी व्यक्ति ने बहुत अच्छा विचार दिया कि व्यक्ति के भीतर गुण कैसे बढ़ते चले जाने चाहिए - नौ बरस की उम्र में उसके पास कोई समझ नहीं है, ज्ञान नहीं है लेकिन जब वह इससे दुगुने वर्ष अर्थात् अठारह (१८) वर्ष का हो जाये तब कम से कम एक गुण तो आ ही जाना चाहिए चाहे आठ अवगुण हों। सत्ताइस (२७) वर्ष का हो जाने पर दो गुण और सात अवगुण; छत्तीस (३६) वर्ष का होने पर तीन गुण और छः अवगुण; पैंतालीस (४५) वर्ष का होने पर चार गुण और पाँच अवगुण; और इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते नब्बे (९०) वर्ष के होते-होते गुण पूरे हो जायें और अवगुण एक भी न रहे। अच्छा लगा यह विचार कि जैसे-जैसे जीवन बढ़ता जाये वैसे-वैसे हमारी गुणवत्ता बढ़ती जाये, हमारा अनुभव बढ़ता जाये। हमें आसक्ति और संसार बढ़ाने की प्रक्रिया धीरे-धीरे छोड़ते चले

जाना चाहिए। यदि हम गुणों को छोड़ने का मन बना लें, उन्हें ग्रहण नहीं करें तो गड़बड़ हो जायेगी। अवगुणों को छोड़ने का मन बना लें, उन्हें ग्रहण न करें इसी का नाम त्याग है। बहुत सारी चीजें छोड़ते हैं हम। क्या-क्या नहीं छोड़ते ? जो हमारे लिए वेस्ट (कूड़ा/व्यर्थ) है वो तो हम हमेशा छोड़ते हैं। लेकिन क्या हम अपने अवगुणों का त्याग करके, गुणों का संग्रहण और संचय करने की कोई प्रक्रिया पर विचार करना पसन्द नहीं करेंगे ? विचार करना चाहिए कि हमारे जीवन में हमने क्या-क्या संचित किया ? सोने-चाँदी के सिक्के, भवन और बहुतसारी चीजें जिनको कि हम संचय और संग्रह करके रखते हैं वास्तव में ये संग्रह हमारे इस जीवन के लिए और आगे के लिए भी लाभकारी हैं ? या नहीं है ? ग्रहण तो करें लेकिन कौनसी चीज का ग्रहण करें, कौनसी चीज के ग्रहण से इन्कार कर दें ? जब ग्रहण करने से इन्कार कर देते हैं उसी का नाम त्याग है।

छूटने का भाव त्याग है

ग्रहण करके छोड़ना, सामान्य रूप से तो इसी को त्याग माना जाता है। लेकिन आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के चरणों में बैठे, वे कहते थे कि छोड़ने में तो अहंकार आ सकता है। अपने आप को उससे छुड़ा लो, छूट गये इस बात का धन्यवाद। और अपने मन में इस बात की कृतज्ञता ज्ञापित करो कि कल तक दुनियाभर की चीजें ग्रहण करते थे, अच्छा हुआ कि हम आज इसको ग्रहण करने से बच गये। लेकिन वास्तव में उत्तम त्याग तो ये ही कहलायेगा कि हम ग्रहण ही न करें, यदि ग्रहण कर लिया है तो फिर हम ये ध्यान रखें कि ये ग्रहण किस प्रकार का है ? आचार्य भगवन्तों ने दो तरह की प्रक्रिया रखी है - जो हमारे पास है वह अपने लाभ के लिए छोड़ दें या उससे अपने को छुड़ा लें, वास्तव में शब्द ये ही होना चाहिये, छोड़ देने में तो अहंकार झलकता है मानो हमने छोड़ा! था क्या हमारा जिसे छोड़ने का अहंकार करें हम ? हम ही छूट गये। भ्रमवश कल तक जिन-जिन चीजों को इकट्ठा करके सम्हालते थे आज ज्ञान हो गया तो लगता है कि ये मेरी अपनी नहीं है, हट गया मन। अपना मन उसमें से निकाल दिया। वास्तव में तो त्याग यही है, इसी से आत्मशान्ति मिलती है। लेकिन जब तक जीवन में त्याग घटित नहीं हुआ तब तक तो ग्रहण भी करें और देते भी जायें । दोनों चीजों का एक बहुत अच्छा सन्तुलन अगर बन जाये, ग्रहण और त्याग का या कि दान का तो वह भी त्याग धर्म कहलायेगा।

दान-परिग्रह का नियन्त्रण

आत्मशांति के लिए जब हम राग-द्वेष और विकारी भावों का त्याग कर देते हैं

वास्तव में तब है त्याग। उन विकारी भावों पर नियन्त्रण के लिए परिग्रह से निवृत्त हो जाना त्याग है। पर परिग्रह से पूरी तरह निवृत्त नहीं हो पा रहे, ठीक है इसका नियन्त्रण तो कर ही सकते हैं! अपने परिग्रह को नियन्त्रित करने का नाम ही तो दान है। इसीलिए त्याग धर्म के अन्तर्गत दान धर्म को भी शामिल किया गया है। वास्तव में तो अपने को सब चीजों से विमुख कर लेना था लेकिन ऐसा नहीं हो पाता तो ग्रहण और साथ में देना इस रूप में हम अपने त्याग धर्म का पालन कर सकते हैं। दोनों ही प्रक्रिया बहुत विचारणीय है।

कृतज्ञभाव से किया गया दान ही त्याग है

हम दूसरों को देते हैं तो प्रत्युपकार की भावना से भी दे सकते हैं या तिरस्कार की भावना से भी दे सकते हैं - इसे तामसिक दान माना गया है। या हम किसी चीज को दूसरे को संक्लेशपूर्वक देते हैं या उससे अपेक्षा रखते हैं कि उससे मुझे बदले में कुछ मिलेगा, ये तो इन्वेस्टमेण्ट (निवेश करना) है, ये डोनेशन (दान) नहीं है। जहाँ देते समय थोड़ी भी प्रत्युपकार की भावना है; देने के बाद संक्लेश है ; सामनेवाले की अवज्ञा है - अवमानना है; तिरस्कारपूर्वक दिया जा रहा है; अपने को बड़ा मानकर दूसरे को क्षुद्र मानकर दिया जा रहा है तो ऐसा दान त्याग धर्म के अन्तर्गत नहीं आयेगा। ये विचार करने की चीज है। हम लोग देते हैं, देने की होड़ में देते हैं लेकिन इसके पीछे कहीं पाने-वाले को नीचा दिखाने की भावना तो नहीं है? अगर हम अहंकारवश देते हैं तो वह दान भी राजसिक दान कहलाता है, इस तरह के दान में भी त्याग धर्म का पालन नहीं है। देने में ये सावधानियाँ भी रखनी चाहिये। आज इस तरह के दान बहुत देखने में आते हैं। बहुत थोड़े-से दान हैं जिनमें कि व्यक्ति अपना कर्तव्य मानकर देता है और सामनेवाले ने ग्रहण कर लिया इसे कृपा मानता है, लेनेवाले को अपने से बड़ा मानता है - तब समझना चाहिये कि वास्तव में त्याग धर्म सफल हो गया। जीवन में एक-आध बार ऐसा भाव भी बनाना चाहिये जब हम ये कृपा मानें कि आपने हमारा कुछ स्वीकार कर लिया। वैसे बनता तो है ऐसा भाव, कभी-कभी बनता है कि जब हम ये कृपा मानते हैं कि आपने हमारा कुछ स्वीकार कर लिया, आप यदि लेने से इन्कार कर देते तो ! मेरे पास देने के लिए बहुत कुछ है पर मेरा देना सार्थक आपने कर दिया कि आपने ले लिया। विनोबा ने लिखा—किसी को यदि भूख नहीं लगती तो हम कभी अतिथि-सत्कार भी नहीं कर पाते, बहुत अच्छा हुआ कि आपको भूख लगी और हमको अतिथि-सत्कार का अवसर मिला, ऐसे अत्यन्त कृतज्ञता के भाव से जो दान दिया जाता है वही त्याग धर्म के अन्तर्गत आता है।

एक बार समस्ती में आचार्य महाराज को लोगों ने कहा कि 'महाराज ! कभी-कभी तो आपको भी लोगों के सामने हाथ आगे करना पड़ता है। आप का हाथ नीचे रहता है और देनेवाले का हाथ ऊपर रहता है।'

तब आचार्य महाराज ने हँसकर जवाब दिया - 'भले ही देनेवाले का हाथ ऊँचा रहे लेकिन काँपता कौनसा रहता है ऊपरवाला या नीचेवाला ?'

ऊपरवाले को ये डर रहता है कि नीचेवाले ने हाथ बंद कर लिया तो क्या कर लेंगे ? रखो अपने पास, नहीं लेंगे तो ! यहाँ पर लेनेवाला बड़ा है। ऐसे सम्मान की भावना से जैसे कि मुनिजनों को हम दान देते हैं ऐसे ही दान की परम्परा रही है हमारे यहाँ। ऐसे दानतीर्थ की स्थापना सबसे पहले तीर्थंकर आदिनाथ भगवान के समय में राजा श्रेयांस और उनके भाई सोम दोनों ने की थी।

वास्तव में त्याग धर्म है वह जिस त्याग के पीछे हमारे मन में आह्लाद हो -

दान देय मन हरख विशेषे

एक बार नदी और तालाब के बीच चर्चा छिड़ गई। तालाब ने कहा - 'तू एक दिन खाली हो जायगी, हमेशा देती रहती है, इधर-उधर होती हुई अपना सारा पानी समुद्र में दे देती है, खाली हो जायेगी एक दिन।' लॉजिक (तर्क) तो बिल्कुल ठीक था कि देते चले जा रहे हैं तो खाली हो जायेंगे।

नदी ने कहा कि - 'मुझे तो दिये बिना चैन ही नहीं। मेरा तो होना ही व्यर्थ हो जायेगा अगर मैं बहना छोड़ दूँ, अपना जल समुद्र में न डालने जाऊँ। मेरी तो यात्रा शुरू ही समुद्र तक जाने के लिए होती है।'

तालाब ने बहुत ऑरग्यूमेण्ट (तर्क-वितर्क, युक्ति) दिये लेकिन नदी चुपचाप अपना काम करती रही, जितना पानी आता सब समुद्र में दे देती। जब गर्मी पड़ी तब नदी की धारा पतली भले ही हो गई पर सूखी नहीं लेकिन तालाब सूख गया। जिसने कभी किसी को दिया नहीं उसे तो हमेशा भरा ही रहना चाहिये और देने वाले को रिक्त हो जाना चाहिये! लेकिन देखने में तो ये आता है कि देते चले जाते हैं और भरते चले जाते हैं। वास्तव में जो देता है वही भरता है। जो ग्रहण करता है, विसर्जन नहीं करता उसका ग्रहण उसको ही ग्रसित कर लेता है, उसे ही नष्ट कर देता है।

हम थोड़ा-सा विचार करें कि दें तो कितना दें और ग्रहण करें तो कितना करें ? हम ग्रहण और त्याग का एक अच्छा सन्तुलन बना लें तो त्याग धर्म सार्थक होगा। विनोबा कहा करते थे - 'एच टू ओ' (H^2O)' दो हाइड्रोजन - एक ऑक्सीजन, दो ग्रहण तो एक त्याग ऐसा फॉर्मूला बना लें।

सन्तुलन - ग्रहण और त्याग में

त्याग के लिए बताया गया है कि अपनी आय का, कमाई का कितना प्रतिशत दान करना चाहिए - सबसे उत्तम/प्रथम दान के लिए बताया है कि अपनी आय का पचास प्रतिशत अपने लिए खर्च, पच्चीस प्रतिशत दान और पच्चीस प्रतिशत भविष्य के लिए संचय करना चाहिए। द्वितीय स्थान पर बीस प्रतिशत दान व तृतीय स्थान पर दस प्रतिशत दान को बताया। आचार्यों ने स्वयं ही इस तरह से हमारे लिए त्याग की सीमा निर्धारित की है। हम जितना ग्रहण करें उसका एक निश्चित भाग छोड़ें भी। कितना ग्रहण - कितना त्याग इसका सन्तुलन बना रहना चाहिए जिससे संक्लेश न हो, अहंकार जागृत न हो। अपना कर्तव्य मानकर दें हम -

'बीज राख फल भोगवे ज्यों किसान जग माँहि।'

पहला प्वाइंट (बिन्दु) है कि हम ग्रहण कितना करें ? भोग कितना करें ? जिससे आगे के लिए हमारा कुछ सुरक्षित रहे। किसान बीज के लिए अलग सुरक्षित रख लेता है, उसके जीवन में कितनी ही मुश्किल खड़ी हो जाये लेकिन वह अपने संचित बीज को कभी अन्य काम में नहीं लेता, कभी नहीं खाता। भैया ! आगे के लिए इतना तो बचाकर रखें! भोग में इतना ही लगाएं जिससे कि थोड़ा बहुत संचित भी होता रहे पुण्य के रूप में। **भोग से पुण्य संचित नहीं होता, पुण्य-त्याग से संचित होता है।** इसलिए हम इतना ही भोगें जिससे कि पुण्य भी संचित हो सके। इसके मायने है कि ऐसा भोग जिसके पीछे त्याग छिपा हुआ है वही हमारे लिए पुण्य का अर्जन करेगा।

ग्रहण करें, हक न छीनें

दूसरी चीज - भोग या ग्रहण इस तरह करें कि दूसरों का हक न छिने। ये बहुत कठिन मामला है। लाखों रुपये अपने पास रखकर दस हजार रुपये दे देने में हमारे भीतर इतना अहंकार आ जाता है कि देखा ! हम कितने बड़े दानपति हैं! पर दूसरे का हक छीनकर तो दो ही मत। **इतना ही ग्रहण करना जिससे दूसरे का हक न छिने।**

आचार्य गुणभद्र ने आत्मानुशासन (श्लोक-४५) में लिखा है कि बारिश के दिनों में नदियों में पानी बहुत आता है तो समझना कि गंदा ही आता है। ऐसे ही यदि बहुत अधिक सम्पत्ति का संचय किया गया है तो मानियेगा कि वह संचय बहुत पाप से ही हुआ है। चक्रवर्ती जैसे पुण्यात्मा एक्सप्शन (अपवाद) हैं जिनको दुकान खोले बिना नौ निधियाँ, चौदह रत्न अपने आप प्राप्त होते हैं, वह बिल्कुल अलग चीज है। हम और आप को तो बिना पाप किये ग्रहण और संचय होता ही नहीं। इसलिए ग्रहण इतना ही करें

जिससे दूसरे का हक न छिने। एक छोटा-सा उदाहरण है गृहस्थी का ले लें तो जल्दी समझ आ जायेगा नहीं तो ऐसा लगेगा कि किसी का हक न छीनें - कैसे ? हाँ, घर में चार लोग हैं - माँ-पिताजी, दो भाई, बड़ी बहन तो बहुत पहले चली गई, ब्याह हो गया। जब मटर आना शुरू होते हैं तो थोड़े महंगे होते हैं, इसलिए शुरू में थोड़े से आते हैं घर में। मान लीजिए एक पाव लाये, छिलके आदि निकलकर दो सौ ग्राम बच गये। एक-एक के हिस्से कितने आयेंगे ? पचास-पचास ग्राम। अब तारीफ इस बात में है कि खाते समय इस बात का ध्यान रखना। ऐसा नहीं कि माँ तो औघड़दानी है या बनानेवाला तो देने के लिए ही बनाता है तो माँ के हिस्से का मटर भी हम अपनी थाली में डलवा लें! बस इतना ही करना है, इतना ही ध्यान रखना है, चार लोग हैं और चारों के लिए है ये। एक-एक चम्मच लिया, बस हो गया। माँ कहे कि 'थोड़ा और !' तो भी यही कि बस हो गया, अब और नहीं चाहिए हमें। माँ को ये भी फील (अनुभव, महसूस) नहीं होने देना कि आपके लिए छोड़ रहे हैं, आप पर कृपा कर रहे हैं। 'नहीं, मुझे चाहिए ही नहीं, मेरा हो गया पूरा।' क्या इस तरह की कोई फीलिंग (भावना) अपने भीतर आती है ? तब होगा कि हमने जो ग्रहण किया है वह वास्तव में दूसरे को कष्ट या क्षति पहुँचाये बिना, दूसरे का हक छीने बिना ग्रहण किया है। अगर हम ग्रहण करना भी सीख लें तो हमारा त्याग सार्थक हो जायेगा। अनाप-शनाप तरीके से ग्रहण करते रहना और फिर बाद में कहना कि ये थोड़ा-सा त्याग कर दिया मैंने, ये त्याग धर्म में शामिल नहीं है - ये ध्यान रखना है। इसलिए ग्रहण ही ऐसे किया जाय जिससे दूसरे को क्षति न पहुँचे, किसी का हक न छिने।

तीसरे नम्बर पर कहा है - ग्रहण कब तक करें ? विचार करें! ग्रहण तब तक करें जब तक कि त्याग कर सकें। अभी एक दिन कुछ लोगों ने नियम लिया - महाराज ! कोई एक नई चीज ग्रहण करेंगे तो पहले एक निकाल देंगे।

दूसरे ने कहा - 'हम दो ग्रहण करेंगे तो एक निकालेंगे।'

इतना भी ठीक है, एक चीज या दो चीज घर में आयेंगी तो एक पुरानीवाली निकाल देंगे, ग्रहण करने से पहले त्याग कर देंगे। तो ग्रहण कब तक ? जब तक मैं त्याग करूँ तब तक ही मैं ग्रहण करूँ। जितना ग्रहण करूँ उतना ही त्यागूँ। ठीक है अगर बन जाये तो, नहीं तो थोड़ा बहुत तो त्यागूँ यदि ग्रहण कर रहा हूँ तो।

चौथे नम्बर है - ग्रहण करूँ या नहीं करूँ ? ऐसा कभी विचार करते हैं ? कोई चीज दिखाई दी, चाहे काम की हो या नहीं, सब ले आये, ऐसा नहीं। ग्रहण करूँ या नहीं करूँ! इस बात का भी विचार अपने मन में करें। ये चीज मेरे लिए कल्याणकारी है या

नहीं ? इससे मेरा हित सधेगा या नहीं ? इससे दूसरे का भी कोई लाभ होगा कि नहीं ? अगर ग्रहण करते समय इस बात का भी ध्यान रखें तो शायद हमारा त्याग भी सार्थक होगा। वैसे बताया तो ये है कि दूसरे को भी दें तो ऐसा कि जिससे उसका कल्याण हो खुद भी ग्रहण करें तो ऐसा कि जिससे अपना भी कल्याण हो तब त्यागधर्म घटित होता है। दूसरे के काम न आये ऐसी चीज दे देते हैं और अपने काम में न आये ऐसी चीज अपने घर में रख लेते हैं। बहुत-सी चीजें रखीं होंगी घर में जो काम में ही नहीं आतीं। जाकर देखना जरा, कितनी सारी चीजें ऐसी रखी होंगी जो कभी काम में ही नहीं आईं। पिताजी के जमाने से रखी हैं, बेटों के काम नहीं आईं, बस रखी हैं वे कोने में! दूसरे के काम आ सकती हैं पर दें कैसे ? ग्रहण तो कर लिया पर अब काम में नहीं आती, या ग्रहण किया तब काम में आती थीं लेकिन अब काम में नहीं आती; यदि दूसरे के काम आ सकती हैं तो उसे दे दें - ऐसा होना चाहिए तब हमारा त्याग धर्म सार्थक होगा।

एक छोटा-सा उदाहरण है - एक बाबाजी (कोई वृद्ध सज्जन, साधु या महाराज नहीं) राजा को रोज एक फल (आम) देते। राजा ने एक-दो दिन तो बड़े उत्साह से, बड़े उछाह से फल लिये पर बाबाजी तो रोज ही फल देने आने लगे तो अब कोई इन्ट्रेस्ट (रुचि) नहीं लिया। वे फल मंत्री को दे देते कि रख दो वहाँ पर, बाबाजी ने दिया है तो ठीक है। वे बाबाजी सज्जन पुरुष थे, वे राजा को कोई सलाह देना चाहते थे पर राजा मंत्री को दे देते वह फल। मंत्री राजा से अधिक होशियार होते थे, वे राजा के सलाहकार होते थे, मंत्रणा करते थे राजा से। जो बहुत अच्छी मंत्रणा करे, जो आड़े समय पर अपनी सलाह दे उसे ही मंत्री बनाया जाता था। हाँ तो, उस राजा के मंत्री ने भी उन फलों को न उपयोग में लिया न फेंका, बस एक कमरे में रखते जाते थे। इस प्रकार छः महीने हो गये, एक दिन का भी अन्तराल नहीं हुआ, रोज एक आम भेंट में आ रहा है। राजा को भी शुरू-शुरू में लगा कि ये रोज एक आम देकर जाता है तो ये चाहता क्या है मुझसे ? इसका इंटेंशन (प्रयोजन, उद्देश्य) क्या है ? इसके मन में क्या है ? राजा के मन में बार-बार ये विचार आते। छः महीने बाद एक दिन राजा ने मंत्री से कहा - 'ये बाबा रोज एक आम दे जाते हैं, आखिर ये चाहते क्या हैं ? पूछना उनसे।'

दूसरे दिन बाबाजी फिर आये आम देने। मंत्री ने पूछ लिया कि 'आप चाहते क्या हैं ?'

बाबाजी ने कहा - 'कुछ नहीं चाहता। मैं तो राजा साहब को कोई भेंट देनी चाहिए, ऐसा मेरा कर्तव्य मानता हूँ, इसलिए भेंट दे देता हूँ।'

राजा ने कहा - 'ऐसा नहीं हो सकता, कोई न कोई बात अवश्य है! मंत्री जी !

उन फलों का क्या किया ? फेंक दिये होंगे!'

'नहीं ! रास्ते में नहीं फेंके। बाबाजी रोज देकर जाते हैं तो कोई न कोई विशेषता अवश्य होनी चाहिए - यह सोचकर हमने एक कमरे में रखवा लिये थे।' - मंत्री ने कहा।

'चलें, अपन चलकर देखें उन्हें।' राजा ने कहा। जाकर देखा, सब आम सड़ गये थे, गल गये थे, नीचे फैल गये थे - बिखर गये थे पर उनमें जगह-जगह पर कुछ चमक रहा था। देखा तो हर एक आम में एक हीरा चमक रहा है। मतलब ये कोई साधारण आम नहीं हैं। दूसरे दिन बाबाजी आये तो उनसे पूछा राजा ने - 'आप मुझे रोज आम देते हैं। हमने देखा कि उसमें से हीरा निकलता है। आप मुझे क्या समझाना चाहते हैं ?'

बाबाजी ने कहा - 'तो आज देखा आपने हीरा ! मेरा देना सार्थक हो गया। मैं तो सिर्फ ये बताना चाह रहा था कि ये आम कितना ही सड़-गल जाय लेकिन इसके भीतर का हीरा बहुत चमकदार है। मुझे तो यह एक मैसेज (संदेश) देना था।'

दान-कृतज्ञता से

दान दिया, भेंट दी, उपहार दिया तो कैसा ? कि दूसरे को एक संदेश मिल जाये। हम लोग संदेश ले नहीं पाते हैं क्योंकि देनेवाला दान के साथ अहंकार कर लेता है। कोई कृतज्ञतापूर्वक देता है तो उससे तो तुरंत संदेश मिल जाता है कि देखो, ये व्यक्ति देने के बाद भी इतना विनम्र है! अपनी सब चीजें देता चला जा रहा है! यह हमें क्या संदेश देना चाह रहा है ? ये हमें यही संदेश देना चाहता है कि तुम्हारे पास जो अतिरिक्त हो उसमें से जो दूसरों के काम आता हो वह हमेशा देते चले जाना - हाँ, देनेवाला यही तो संदेश दे रहा है।

गंग कवि और रहीम खानखाना का किस्सा है एक। रहीम खानखाना कवियों के बहुत प्रशंसक थे। एक बार गंग कवि ने कोई कवित्त (दो-चार पंक्तियाँ) लिखीं जो रहीम खानखाना को बहुत पसन्द आईं। रहीम खानखाना ने उससे प्रसन्न होकर रात में बैलगाड़ी में रखकर अशर्फियाँ भिजवाईं। गंग कवि हैरान थे! रात में तो चोर आते हैं, पर रात में कोई देने आवे! गंग कवि ने पुन: एक कवित्त बनाकर भेजा कि लोग तो बताकर जताकर देते हैं पर आपके जैसा देनेवाला तो देखा नहीं उसकी एक पंक्ति थी -

'कहाँ सीखी नवाबजी, ऐसी दैनी देन!'

इसके जवाब में रहीम खानखाना ने जो लिखकर भेजा वह भी बड़ा मार्मिक है-

देनहार कोई और है, भेजत है - दिन रैन।
लोग भरम मोपे करे (धरे), यातैं नीचे नैन।।

देनेवाला कोई और है तब मैं यह अहंकार कैसे करूँ कि मैंने दिया है! जब लोग ये कहते हैं कि मैंने दिया तो मेरी निगाह झुक जाती है, तब मेरा मन शर्मिन्दगी महसूस करता है। अभी तो हम देकर बड़ी अकड़ का अनुभव करते हैं कि मैंने दिया। देना उस दिन सार्थक हो जायेगा जिस दिन दिया और सिर नीचे झुक गया कि लोग ये न समझ लें कि मैंने दिया है।

अनासक्तिपूर्वक त्याग

मैंने दिया क्या ? मैंने तो अपना बोझा हल्का कर लिया। मेरे पास इतना-सारा था कि वह मुश्किल में डाले हुए था। अब दूसरे ने हमारा थोड़ा-सा हिस्सा लेकर हमारा बोझा कुछ कम कर दिया है - त्याग के समय हमारे भीतर ऐसी भावना आये तो वास्तव में वह त्याग धर्म है। त्याग आसक्ति को घटाने के लिए किया जाता है। त्याग का महत्व यह है कि उससे हमारे मन को बड़ा संतोष मिलता है। आसक्ति घटती है तो संतोष मिलता है। इतना ही नहीं त्याग से पद-प्रतिष्ठा अपने आप मिलती है, कुछ कहने की आवश्यकता नहीं होती। यदि आसक्ति होती है तो समझना कि वह त्याग नहीं है।

एक बार हम आचार्य महाराज के साथ चले जा रहे थे। बंडा में ठहरे एक जगह, वहाँ के दरवाजे टूट रहे थे, खिड़कियों में कांच नहीं थे, ऊपर खप्पर की छत थी। हवा के आने के लिए बहुत गुंजाइश थी। रात दस बजे बाद ठंड बढ़ने लगी। हम सबके लिए एक-एक चटाई थी, अकेले आचार्य महाराजश्री को पाटे पर बिठाल देते थे, बाकी सब लोग नीचे जमीन पर एक-एक चटाई बिछाकर बैठते थे। वही एक चटाई होती थी, वही बिछानी है वही ओढ़नी है, आधी बिछा लो - आधी ओढ़ लो। आचार्य श्री ने घास लेने की परम्परा हम लोगों में नहीं डाली थी। अभी जवान हैं इसलिए घास की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उससे अपेक्षाकृत आराम हो जाता है। वही एक चटाई बिछाएँ भी-ओढ़ें भी तो कभी उधर सिर की तरफ से हवा, कभी इधर नीचे से हवा, क्या करें ? कैसे करें ? कुछ समझ नहीं आ रहा था। सब एक-दूसरे की तरफ देख रहे थे कि कौन कैसे कर रहा है ? तब एक महाराज बैठ गये गुढमुढ होकर, चारों तरफ से चटाई ओढ़ ली, अब सिर्फ ऊपर से हवा आयेगी वह सहन कर लेंगे, कम से कम नीचे से तो नहीं आयेगी! सबने ऐसे ही रात भर बैठे-बैठे बिता दी। जब अपन की उतनी साधना नहीं रहती तो मुसीबत आने पर चेहरे पर उतनी प्रसन्नता भी नहीं रहती। मुसीबत आने पर भी चेहरे की प्रसन्नता बनी रहे तब बात है। तो चेहरे पर म्लानता आ गई। आचार्य श्री की यह विशेषता है कि उनके चेहरे की मुस्कराहट तमाम मुसीबतों के बाद भी ज्यों की त्यों बनी रहती है। सवेरे भक्ति

के समय मुस्करा रहे थे वे। उन्होंने मुस्कराते हुए ही पूछा - 'क्यों, कैसी रही रात में ठंड ?'

'बहुत ठंड थी।' हम सबने कहा।

'तो क्या ख्याल आया ?' उन्होंने पूछा।

बड़ी कठिन परीक्षा थी ! क्या कहें ? किस चीज का ख्याल आया ? मैंने स्पष्ट रूप से कहा - 'महाराज जी ! ऐसा लग रहा था कि नीचे बिछाने के लिए एक (ठो) चटाई और होती तो अच्छे से ओढ़कर सो जाते।'

'बहुत अच्छा ! कम से कम छोड़ी हुई रजाई और गद्दे तो याद नहीं आये, चटाई का ही स्मरण आया। त्याग सार्थक हो गया।' महाराज श्री ने कहा।

त्याग करने के बाद यदि उस चीज के प्रति आसक्ति जाग्रत हो जावे तो वह हमारे त्याग को नष्ट कर देती है। ये सावधानी आवश्यक है। त्याग कर दिया है तो फिर धीरे-धीरे आसक्ति भी घटनी चाहिए। **जितनी अनासक्ति उतना ही त्याग।** ऐसा भी होता है कि हम त्याग पहले कर देते हैं आसक्ति बाद में हटती है और ऐसा भी होता है कि आसक्ति कम हो जाने पर त्याग करते हैं। दोनों में ही सावधानी रखनी है। ऐसा त्याग सम्मान का पात्र है। ग्रहण का सम्मान किया है किसी ने ? मेरे ख्याल से व्रत-नियम करनेवालों का तो सम्मान किया होगा लेकिन किसी ने एक लाख रुपया संग्रह/ ग्रहण किया उसका सम्मान तो कभी किसी ने नहीं किया होगा!

एक सेठ जी थे। वे बिल्कुल भी खर्चा नहीं करते थे, ग्रहण तो खूब करते थे। उनमें दूसरों को देने की भावना जरा भी नहीं थी। वे तो अपने खाने-पीने में ही बड़ी कोताही करते थे। न अच्छा खाते न अच्छा पहनते, जोड़-जोड़ के धर लेते। लोगों में बड़ी चर्चा का विषय थे वे। बड़ी निन्दा भी थी कि कैसा व्यक्ति है यह ? बड़ा कंजूस! देखिये, जोड़-जोड़कर रखनेवाले के लिए तो लोग कहेंगे ही कहेंगे। लेकिन कोई व्यक्ति कितना ही खराब हो उसमें भी एक न एक विशेषता तो होती ही है और कोई कितना ही अच्छा क्यों न हो एक न एक खराब चीज तो रहती ही है उसके भीतर। भगवान को छोड़कर बाकी कोई परफैक्ट (पूर्ण, परिशुद्ध) नहीं है। ऐसे ही उन सेठ जी में भी एक विशेषता थी कि पूजा-भक्ति में उनकी बहुत रुचि थी। कहीं भी भजन-कीर्तन हो तो वहाँ पहुँच जाते थे। उनके पड़ौस में एक बाबाजी आये थे, वे भगवान का बहुत बढ़िया कीर्तन कराते थे। सेठजी भी उसमें जाते। लेकिन कौन पूछनेवाला था उन्हें? इतना धनवान व्यक्ति लेकिन कोई नहीं पूछता उन्हें। जगह नहीं रहती बैठने की, जहाँ जूते-चप्पल रखते हैं वहाँ बैठ जाते वे। एक दिन भजन-कीर्तन के दौरान बाबाजी ने दान और त्याग की बहुत बढ़िया चर्चा की, इतनी बढ़िया कि आज सेठ जी का भी कुछ दान का मन बन

आया, जिन्दगी निकल गई थी, आज तक कभी मन नहीं बना था पर आज बन गया। दुकान से लौट रहे थे इसलिए सौ अशर्फियां (सिक्के) रखी थीं चाँदी की, ज़ेब में। पता नहीं क्या हुआ कि वहाँ से उठे। लोगों ने जगह तक नहीं दी उनको। सब सोच रहे थे कि बाबाजी के पास जाकर पता नहीं क्या करेंगे ? कहीं ये न कहें कि बाबाजी। और पाँच-सात लाख पा जाऊँ - ऐसा आशीर्वाद दे दो। सेठजी बड़ी मुश्किल से जगह बनाते हुए बाबाजी तक पहुँचे और वह सिक्कों की थैली ले जाकर बाबाजी के सामने डाल दी - 'भगवन ! कृपा कर ये स्वीकार कर लें आप!' जैसे ही उन्होंने यह कहा कि उनका जय-जयकार होने लगा। लोग उठकर खड़े हो गये, 'यहाँ बैठाओ सेठ जी को, मंच पर।'

सेठ जी ने कहा - 'दो मिनट माइक पर बोलने को मिलेगा क्या ?'

'हाँ मिलेगा, बिल्कुल मिलेगा।'

दस मिनट पहले उनको कोई पूछ भी नहीं रहा था, और अब कहने लगे - 'हाँ, सेठजी की बात सुनो।' आज तक किसी ने नहीं सुनी। लेकिन आज सुनाओ।

सेठजी ने कहा -'मैं तो ये सोचता था कि इस धर्म की जगह पर तो कम से कम पैसे का / धन का सम्मान नहीं होगा! लेकिन यहाँ भी यही देखने में आ रहा है कि मैंने पैसे क्या दिये, मेरा सम्मान होने लगा, लोग मुझे सम्मान देने लगे!'

अब बाबाजी का नम्बर था। बाबाजी ने कहा -'सेठजी ! बैठो आराम से। सुनो, पैसा तो आपके पास अभी दस मिनट पहले भी था और खूब था। पर तब आप वहाँ बैठे थे जूते-चप्पलों की जगह। हमने पैसे का सम्मान न उस समय किया न इस समय किया। आपने जो पैसा छोड़ने का मन बनाया सम्मान उसका किया है। आपके पैसे का सम्मान करना होता तो हम पहले ही कर देते!'

हमारे यहाँ पर जब भी सम्मान की परम्परा रखी गई तो त्याग के सम्मान की ही रखी गई। त्याग भी वह जिसमें न संक्लेश है न अहंकार बल्कि कृतज्ञता है कि सचमुच मेरा इकट्ठा करना सार्थक हो गया कि किसी दूसरे ने इसे स्वीकार कर लिया। इस तरह की कृतज्ञता के भाव से अगर हम त्याग करते हैं तो हमारा मन अत्यन्त पवित्र होता है, जीवन उज्ज्वल होता है, ऊँचा उठता है। हम यही तो चाहते हैं कि हमारा जीवन उज्ज्वल हो, हमारा मन निर्मल हो।

इस प्रक्रिया को अपने जीवन में अपनाकर हम अपने जीवन को ऊँचा उठा सकते हैं - इसी भावना के साथ-

गुरुवर आचार्य विद्यासागर जी महाराज की जय!

❑❑❑

उत्तम आकिंचन्य

- **शरीर भी जिसे मैं अपना मानता हूँ, मेरा नहीं है तो पर-वस्तुएँ मेरी कैसे हो सकती हैं ?**
- **ग्रहण और त्याग दोनों के भाव से ऊपर जो धर्म हमारे भीतर प्रकट होता है वह आकिंचन्य है।**

हम सभी लोगों ने पिछले दिनों बहुत प्रयत्न करके अपना जीवन अच्छा बनाने के लिए विचार की प्रक्रिया शुरू की है- क्रोध के अवसर पर कैसे हम अपनी क्षमता और सहनशीलता बनाये रखें तथा क्षमाभाव धारण कर सकें! कठोरता के अवसर पर हम अपनी मृदुता और कोमलता को बनाये रखें। छल-कपट का भाव आवे तो कैसे हम जल्दी से उसे सम्हाल कर अपने मन को सरल-सच्चा और ईमानदार बनाये रखें ! इतना ही नहीं, जब विकार और लोभ हमें घेरें, तब उसके बीच हम अपनी पवित्रता और निर्लोभपने को बनाये रख सकें- ऐसा पुरुषार्थ शुरू किया हमने। हमें जीवन की सच्चाई समझ में आनी चाहिए और ये भी लगने लगे कि सच्चाई को हासिल करने के बाद उस सच्चाई को बनाये भी रखना है। अपने जीवन को अनुशासित करना है। लापरवाही हमें सच्चाई से विमुख कर सकती है इसलिए जीवन अब आत्मनियन्त्रण के साथ जीना है। इच्छाएं धीरे-धीरे मन को डसने लगती हैं इसलिए इच्छाओं को नियन्त्रित करते हैं। जब व्यक्ति की इच्छाएं नियन्त्रित हो जाती हैं तब उसे अपने पास रखी हुईं चीजें बोझ मालूम पड़ने लगती हैं। इच्छाएं तो हमारे पास बहुत होने के बाद भी 'कुछ नहीं है' - ऐसा अहसास कराती हैं। जब इच्छाएं नियन्त्रित होने लगें, शान्त होने लगे; इच्छाओं को हम जीत लें तो फिर ऐसा लगता है कि ये सब, इतना सारा है, मैं क्या करूँगा इसका? अब नया कुछ चाहिये नहीं, ये भी बहुत है, दे दो जिसको जरूरत हो उसको। हमने यह भी शुरू किया कि अपनी इच्छाएं सीमित हो गईं तो जो कुछ अपने पास है अब वह अपने लिए उपयोगी नहीं मालूम पड़ता, यदि किसी और के उपयोग में आ जाये तो उसे देना भी शुरू किया।

कल हमने यह प्रयास किया कि अपने लिए जो अनावश्यक है और दूसरे के लिए

उपकारी है प्रयत्न करके ऐसी चीज दिनभर में एक-आध बार तो दूसरे को दे ही देंगे और आज से ऐसा लग रहा है- मेरा ये दे देंगे जो ऐसा सोच रहे थे, पर अगर देखें तो **यहाँ पर मेरा है क्या ?**

मेरा यहाँ कोई नहीं

अपने और पराये के भेदभाव में मैं अपना जीवन व्यतीत कर देता हूँ, **यहाँ अपना-पराया कुछ भी नहीं, ये तो हमारे मन का भ्रम है।** शरीर भी, जिसे मैं अपना मानता हूँ वह भी मेरा नहीं है तो पर-वस्तुएं मेरी कैसे हो सकती हैं? जब जिन क्षणों में ऐसा भाव मन के भीतर उत्पन्न होता है, जागृत होता है कि यहाँ मेरा कुछ नहीं है यहाँ तक कि मेरी देह भी मेरी नहीं है वे ही क्षण हमें अकिंचन और आकिंचन्य भाव से भर देनेवाले क्षण हैं। अपने जीवन में तेरे-मेरे के भाव से रहित होकर कोई क्षण गुजारें - क्या कभी अपने मन में ऐसा विचार आता है? हमें अपने मन में ऐसा विचार उत्पन्न करना चाहिये। मैं ये अहंकार क्यों करूँ कि 'ये मेरा है', 'मैं किसी को देता हूँ,' इस भाव का भी मुझे त्याग कर देना चाहिये। यहाँ पर 'सब' सबका है। हमने मान लिया कि ये मेरा है, ये इसका है और तेरे-मेरे के इस संसार में मैं निरन्तर अपने मन में अहंकार और संक्लेश करता रहता हूँ। जब मेरे मन में ऐसा भाव आता है कि ये मेरा है, कितना सारा है मेरे पास, तब मैं और लोगों से बड़ा हो गया- ऐसा अहंकार कर लेता हूँ, वह भी मुझे दुःखदायी है। और जब मैं अपने को और लोगों से कम्पेयर (तुलना) करता हूँ तो पाता हूँ कि मेरे पास तो कुछ भी नहीं है, लोगों के पास तो कितना कुछ है! तब मैं संक्लेश कर लेता हूँ। पर देखा जाय तो यहाँ कुछ भी मेरा नहीं है और कुछ भी पराया नहीं है- अगर कभी शान्ति से बैठकर इस तरह का विचार करें, कभी मन में इस तरह का विचार आवे—वही है आकिंचन्य का विचार।

आकिंचन्य धर्म बहुत आसान भी है और बहुत मुश्किल भी है। (दश धर्मों में से) बाकी धर्मों में तो कुछ न कुछ करना है पर इसमें कुछ करना ही नहीं है। जितना कुछ करते आये थे आज अपने को उस सबसे विश्राम ले लेना है। यहाँ कुछ नहीं है जिसको मैं ग्रहण करूँ या कि जिसका मैं त्याग करूँ। जब मेरा है ही नहीं तो क्या ग्रहण और क्या त्याग ? ग्रहण और त्याग दोनों के भाव से ऊपर जो धर्म हमारे भीतर प्रकट होता है वह आकिंचन्य है। जीवन में बहुत बार अनुभव करते हैं कि कोई हमारा नहीं है, जैसे- जब कोई हमारा प्रियजन हमसे दूर हो जाता है तब उसकी याद के वशीभूत होकर हम उसके अभाव में पीड़ा महसूस करते हैं और ऐसा लगता है कि मेरा अपना कोई नहीं है। मेरा

अपना कोई नहीं है- ऐसा भाव कई बार मन में आया होगा पर ये भाव रागजन्य है, यहाँ पर किसी के न होने की पीड़ा है, इसका नाम आकिंचन्य नहीं है।

जैसे- ज्वाइंट फैमिली (संयुक्त परिवार) में कभी ऐसा होता है कि एक कमाता है और खानेवाले कई लोग होते हैं। कोई कहता है- 'अब सब अपना-अपना अलग-अलग कर लेते हैं।' दूसरा कहता है- 'भैया, यहाँ कोई किसी का नहीं है, सब अपने अलग-अलग ही हैं' - ऐसी फिलॉसफी (दर्शन, चिन्तन, विचार) मन के अन्दर आ जाती है। ऐसा आर्ग्यूमेन्ट (तर्क, युक्ति) हमारे द्वेषजन्य अकेलेपन के कारण है, ये भी आकिंचन्य धर्म नहीं है। जब हमारी किसी से नहीं बनती तब द्वेषवश अपने को उससे विमुख करके यह ऐसा विचार करने लगते हैं। हाँ, तब कहते हैं- 'सब देख लिया, संसार में कोई किसी का नहीं है।' क्योंकि किसी का साथ नहीं मिला। किसी का साथ नहीं मिलने पर हम अकेले हो जाते हैं, यह आकिंचन्य नहीं है। यदि किसी का साथ था फिर उसके बिछुड़ जाने पर हम अकेले हो जाते हैं वह भी आकिंचन्य नहीं है। आकिंचन्य वह है जिसमें हम न किसी के वियोग से पीड़ित हों, न द्वेषवश किसी से अलग-थलग खड़े हों बल्कि अपन ने जान लिया कि अपने सुख-दुःख को तो हम अकेले ही, एकाकी ही भोगते हैं। फिर जब सुख-दुःख में किसी का पार्टीसिपेशन (सहभागिता) नहीं है तो मैं क्यों मानूँ कि कोई अपना है और कोई पराया है! ऐसे अपने-पराये दोनों के भाव से जब हम ऊँचे उठ जाते हैं और अपने आप में सेल्फ सैटिसफैक्शन (आत्म-सन्तोष) हमारे भीतर आने लगता है, एक भरापन, न वियोगजन्य अभाव की पीड़ा न विरोधजन्य अभाव की पीड़ा है, हम अकेले खड़े हो जाते हैं लेकिन अपने आप में सन्तुष्ट हैं, अपने आप में भरे-पूरे हैं तब वे क्षण वास्तव में आकिंचन्य के हैं। हमारे जीवन में हमने इस चीज का अनुभव किया है-

अकेला ही हूँ मैं

सन् १९८९ की घटना है। उस समय गढाकोटा में चातुर्मास कर रहे थे। उन दिनों बहुत अस्वस्थ थे। उन दिनों एक मुनि महाराज और एक ब्रह्मचारी हमारे साथ थे। इतवार का दिन था। बाहर पाण्डाल में प्रवचन होते थे। हम मन्दिर में बैठा करते थे। उस दिन तीव्र ज्वर था। मुनि महाराज ने कहा भी कि 'मैं आपको अकेले छोड़कर नहीं जाऊं।'

मैंने कहा- 'नहीं, आप जाओ, लोगों को धर्म-ध्यान कराओ, मैं शान्ति से अपना समय व्यतीत करूँगा।' उनके जाने के बाद फीवर (ज्वर) बढ़ने लगा। जब किसी को कोई तक़लीफ होती है तो वह कितना ही निस्पृही क्यों न हो उसके मन में एक क्षण

को तो विचार आता ही है कि 'कोई पास में होता!' यही फीलिंग (भावना) थोड़ी देर के लिए आई। मैंने चटाई में से सिर बाहर निकालकर देखा- दूर-दूर तक कोई नहीं है; किसी की आवाज भी नहीं आ रही; पाण्डाल बहुत दूर है, वहीं प्रवचन हो रहा है; यहाँ कोई भी नहीं है और तब उन क्षणों में लगा कि **सचमुच कोई किसी का इसलिए नहीं है कि अपने सुख-दुःख को तो हमें अकेला ही भोगना है।** रागवश या द्वेषवश कहते हैं या वियोग में, विरोध में कहते हैं कि कोई किसी का नहीं है इसलिए नहीं। अपने कर्मों के सुख-दुःख भोगने में हम कितने एकाकी हैं, कितने अकेले हैं और हम व्यर्थ ही अपने-पराये का भेद करके अपने जीवन में अहंकार और संक्लेश करते रहते हैं। (मैं पैन और डायरी साथ ही रखता था) उन क्षणों का लिखा हुआ आज भी मेरे पास रखा हुआ है कि- 'आज तक कहता था कि कोई किसी का नहीं, आज मैंने अनुभव किया कि कोई किसी का नहीं, क्योंकि अपने सुख-दुःख में हम अकेले हैं।'

सामर्थ्य की पहचान

उसके बाद दिन में फिर कभी नहीं लेटा मैं। तब से आज तक यही कोशिश करता हूँ कि दिन में विश्राम न करूँ मैं, चौबीस घण्टे अपने काम में लगा रहूँ क्योंकि किसी भी क्षण साँस रुक जायेगी तो कोई भी हाथ लगा लेगा। जिनको अपना मानते हैं वे भी प्रयाण के समय दीन-हीन-असहाय खड़े हो जाते हैं। राजा भी दीन-हीन-भिखारी की तरह असहाय होकर खड़ा हो जाता है जब पुत्र की मृत्यु हो जाती है। वह मृत्यु को आदेश दे कि 'तुम नहीं ले जा सकती मेरे पुत्र को!' पुत्र को जिसको आज तक आज्ञा में रखा था, आदेश दे कि 'मेरी आज्ञा के बिना तुम अपने प्राण नहीं छोड़ सकते!' क्या ऐसा कर सकते हैं? कोई नहीं कर सकता। मतलब हम सब अपना जीवन कितने एकाकी जीते हैं- इस तरह की अनुभूति हमारे भीतर उत्पन्न हो, ऐसी अनुभूति होने से हमारे भीतर एक सामर्थ्य उत्पन्न होगी। ऐसा नहीं समझना कि ऐसी भावना से हम बहुत दीन-हीन और आइसोलेटेड (एकाकी, अकेले) हो जायेंगे। बल्कि ये फीलिंग (भावना) हमारे अन्दर एक सामर्थ्य पैदा करेगी; एक स्वावलम्बन पैदा करेगी; हमें गिला-शिकवा और शिकायत से बचायेगी, क्योंकि हमें अपने और पराये दोनों से शिकायत होती है। पराये से शिकायत होती है कि वह पराया क्यों है? और अपना जब स्वार्थपूर्ति नहीं करता तब उससे शिकायत होती है। जब हम एकाकी अनुभव करेंगे तो उस समय निस्वार्थ, बहुत निःसहाय हो जायेंगे। उन क्षणों में हमारी सामर्थ्य इतनी बढ़ जायेगी कि परावलम्बन की आवश्यकता ही नहीं है, इतने स्वाबलम्बी होकर अपना जीवन जीयेंगे।

भीड़ में भी हूँ अकेला

एकाकी होने का मतलब ये नहीं है कि परिवार-समाज और प्राणिमात्र से हटकर कहीं खड़े हो जाना बल्कि उन्हीं के बीच ऐसा जीवन जीना कि किसी के आलम्बन की आवश्यकता ही नहीं है लेकिन सबको मेरा आलम्बन है, सबको मैं सहारा हूँ। मुझे किसी के सहारे की आवश्यकता नहीं है- इस तरह का जो भाव है वास्तव में वह आकिंचन्य का भाव है।

वैसे तो सारी बातें हो चुकीं - परिग्रह से मुक्त होना, ममत्व से मुक्त होना और अपने जीवन को सहज रूप से जीना। अपन को लगता है कि ममत्व छोड़कर जीवेंगे तो शायद अच्छे-से नहीं जीवेंगे लेकिन हम थोड़ी कोशिश करें तो, हम उन लोगों से अच्छे सम्बन्ध रखते हैं जिनसे हमारा ममत्व नहीं होता; जिनके प्रति हमारे अन्दर 'मेरेपन' का भाव होता है उनसे अपन अच्छा व्यवहार नहीं करते। देख लें, घर के लोगों में बैठकर कभी हम दस मिनट प्यार से बात करते हैं? या कि बाहर के किसी पराये व्यक्ति जिसको हम अपना नहीं मानते उससे कर लेते हैं!

कौन अपना-कौन पराया

इतना ही नहीं, अपन ट्रेन में जा रहे हों, वहाँ घण्टे-दो घण्टे को किसी से बात करने का अवसर मिला है, फिर अपनी-अपनी जगह उतर जाना है, पता नहीं कौन कब मिलेगा ? उस समय हम जिस तरह का व्यवहार करते हैं क्या वैसा व्यवहार हम हमेशा नहीं कर सकते? ऐसा मानकर कि कौन अपना-कौन पराया? कल के दिन, जो अपना है उसे पराया होने में देर नहीं लगती और कल जिनको पराया माना था वह इतना अपना हो जाय कि हम दंग रह जायें देखकर- ये चीज हम अगर अपने जीवन में खुद अनुभव करें तो हम देखेंगे कि हमारा जीवन कुछ और ही होगा; हमारी लाइफ स्टाइल (जीवन शैली) कुछ और ही होगी। इसलिए ऐसा नहीं समझना कि हम ऐसे अलग-थलग, सब दुनिया से कटकर के खड़े हो जायेंगे, ऐसा नहीं है ये आकिंचन्य। **सब के बीच में रहकर अत्यन्त निस्पृह, अत्यन्त निस्वार्थ और स्वावलम्बी होकर के जीने की प्रक्रिया है आकिंचन्य।** अगर हम अभ्यास करें तो ये सब चीजें हमारे जीवन में भी आ सकती हैं।

एक छोटी-सी घटना आपको कहूँ- एक शाम एक साधुजी एक पेड़ के नीचे बैठे हुए थे। रात घिरने ही वाली थी। वहाँ से राजा का महल थोड़ी ही दूर पर था। राजा अपने महल की खिड़की में खड़े हुए देख रहे थे कि रात घिरने को है और ये बाबा जिनके पास ठीक से पूरे कपड़े भी नहीं है रात कैसे व्यतीत करेंगे? चलें, देखें! यदि वे अपने महल

में आ जायें तो, महल तो कितना खाली ही पड़ा है, कहीं भी ठहर जायेंगे। लेकिन अगले क्षण मन में ये भी आया कि अगर मना करेंगे तो मानूँगा कि सच्चे साधु हैं। यदि मना नहीं करेंगे, आ जायेंगे तो थोड़ा लगेगा कि कैसे साधु हैं ! मन तो मन है। किसी की निस्पृहता बाहर वाणी और क्रियाओं में दिखाई पड़ती है और किसी के मन की निस्पृहता ऐसे सहजरूप से दिखाई नहीं पड़ती। और वर्तमान में कोई अपनी वाणी से कहे कि मैं बहुत निस्पृह हूँ या कि वैसी निस्पृहता का दिखावा करे तो हम उसे निस्पृही मान लेते हैं, पर अन्तरंग में कोई कितना निस्पृही है ये तो तब मालूम पड़ता है जब वह उन सब चीजों के अभाव में भी शान्ति से रह ले। चीजों के सद्भाव में तो मुझे कुछ नहीं चाहिये, मुझे तो बड़ा सन्तोष है, मुझे किसकी जरूरत है? कौन किसका है ? क्या साथ ले जाना है अपन को? कौन ले गया आज तक? एक दिन तो मर जाना है ! ऐसे बहुत अच्छी-अच्छी बातें जानते हैं अपन जब सब चीजों का सद्भाव हो तब। पर जब अभाव हो तब उस समय मालूम पड़ती है कि सचमुच निस्पृहता-निस्वार्थता आई कि नहीं आई ! अभाव में भी उतनी ही प्रसन्नता हो जितनी कि सद्भाव में थी!

राजा ने बाबाजी से निवेदन किया कि- 'बाबाजी ! आपका ही महल है, जहाँ चाहो वहाँ रहो, पधारो, महल पवित्र करो, यहाँ कहाँ रात बितायेंगे?' बाबाजी तुरन्त तैयार, एक-आध बार भी मना नहीं किया। राजा के मन में सन्देह आ गया- 'लगता है ये तो शायद हमारे महल के सामने आकर इसीलिए बैठे थे कि महल में कोई न कोई जगह मिल ही जायेगी। अभी इनके मन में निस्पृहता आई नहीं है। बाहर से साधु हैं, लगता है अभी भीतर से नहीं बने!'

दूसरे के बारे में ममता इतनी दिखाई पड़ती है, अपना राग नहीं दिखाई पड़ता- अपना द्वेष नहीं दिखाई पड़ता, दूसरे का राग-द्वेष दिखाई पड़ता है।

बाबाजी आ गये सहज रूप से तो राजा ने कहा- 'चलो बाबाजी, आपको अपना महल दिखाऊँ, जहाँ आपको पसन्द आये वहीं पर रहिये' और दिखा रहे हैं एक-से-बढ़कर एक कमरे हैं, एक-से-एक सुविधाओं से सम्पन्न। 'हाँ बाबाजी ! ये है सबसे श्रेष्ठ, सब सुविधा-सम्पन्न है, आप यहाँ रहो।' - राजा ने कहा।

बाबाजी ने कहा- 'ठीक है ।'

अब तो और मुश्किल। थोड़ा-बहुत तो कहते कि नहीं-नहीं, हमें ऐसा नहीं चाहिये। हमें तो आप ऐसे ही (सामान्य) कमरे में ठहरा दें, क्या करना है, हम तो बाबाजी हैं। ये कक्ष इतना सुविधा-सम्पन्न दिख रहा है तो इसी के लिए तैयार हो गये! अब तो पक्का हो गया कि बाबाजी - बाबाजी नहीं है ये तो, हाँ!

और उस भव्य महल के आलीशान कमरे में बाबाजी आराम से लेट गये। सवेरे उठे तो राजा ने पूछा- 'कैसी बीती रात बाबाजी?'

बाबाजी भी सचमुच बाबाजी थे। बाहर से दिखनेवाले बाबाजी बहुत होते हैं, वे तो भीतर से बाबाजी थे। वे बोले- 'राजन् ! कुछ आप जैसी, कुछ आपसे अच्छी।'

राजा चकित हुए कि 'मेरे से अच्छी कैसे?'

'बताऊँगा, कभी बताऊँगा बालक, कभी बताऊँगा।' – बाबाजी ने कहा।

'तो मतलब अभी और रुकने का विचार है!' भीतर ही सोचा राजा ने। बाबाजी रुक गये। एक दिन, दो दिन, दस दिन, महीने, छः महीने व्यतीत हो गये। एक दिन राजा ने कहा- 'बाबाजी ! अब तो मुझमें और आप में कोई अन्तर दिखाई नहीं पड़ता। पर मैं जब भी आपसे पूछता हूँ कि कैसा गुजरा आपका दिन ? कैसी गुजरी आपकी रात? तो आप कहते हैं कि कुछ मेरी जैसी और कुछ मेरे से भी अच्छी। अब आप भी इस आलीशान महल में रहते हैं और इन सारी सुख-सुविधाओं का उपभोग करते हैं। मेरे जैसा ही है अब आपका सब ठाट-बाट।'

तब बाबाजी ने सोचा कि आज बता ही देता हूँ राजा को। उन्होंने राजा से कहा- 'उठाओ मेरा कमण्डलु, थोड़ा घूमकर आते हैं। वहीं बात करेंगे अपन। क्या राजमहल में बात करें !'

राजा चले हैं- कमण्डलु उठाकर। बाबाजी आगे-आगे, राजाजी पीछे-पीछे। बस चले जा रहे हैं। 'अरे, ठहरो तो बाबाजी !' - राजा ने कहा- 'अब बहुत दूर आ गये, जो कहना है वह यहीं कह दें।'

'बस बेटा ! थोड़ी दूर और।' बाबाजी बोले- 'वह जो नदी दिख रही है उसके पार चलके।'

राजा ने कहा- 'नहीं बाबाजी ! नदी के उस पार तो नहीं जा पाऊँगा।'

'क्यों?'

'अरे, इतना बड़ा महल छोड़कर आया हूँ, उसकी रक्षा कौन करेगा? वह मेरा महल है। मेरे बिना उस महल की शोभा ही नहीं रहेगी। बाबाजी, मैं तो लौटूँगा।' - राजा ने कहा।

'तो सुनो' बाबाजी कहने लगे- 'मैं तो अब नहीं लौटूँगा।'

'अरे बाबाजी!' राजा कहने लगे- 'इतना बढ़िया महल, वहाँ आप छः महीने रहे। अब कहाँ जंगल में रहेंगे? आइये, लौट चलें।'

बाबाजी ने कहा- 'राजन् ! मैं वर्षों जंगल में ही रहा हूँ। छः महीने तुम्हारे महल

में रहा। जैसे जंगल में रहता था वैसे ही तुम्हारे यहाँ रहा। न जंगल मेरे भीतर आता था न मैंने महल अपने भीतर आने दिया। मैं महल में रहा जरूर हूँ लेकिन मैंने महल को कभी अपना नहीं माना। तुम अपना मानते हो तो लौट जाओ। मैं तो अपना मानता ही नहीं इसलिए लौटने का कोई सवाल ही नहीं।' और बाबाजी आगे बढ़ चले।

यहाँ अपना-पराया कोई नहीं

मेरे ख्याल से हमारे लिए ये सन्देश पर्याप्त है कि **हम इन सब चीजों के बीच में रहें या इन सब चीजों को छोड़कर रहें- यदि उन चीजों के प्रति हमारे मन में अपने-पराये का भाव नहीं है तो हम कहीं भी रहें, सहजरूप से अपना जीवन व्यतीत कर सकते हैं।** ये अपने-पराये का भाव हमारे संसार को निर्मित करता है और हमारे दुःख का कारण बनता है। क्या ये बात कभी शान्ति से विचार कर हम अपने जीवन में इस आकिंचन्य धर्म को लायेंगे ? हमें ऐसा पुरुषार्थ जरूर करना चाहिये। इसी भावना के साथ कि ये अपने-पराये से ऊपर उठने की भावना, सब प्राणिमात्र को अपना मान लेने की भावना हमारे भीतर आये, ऐसा धर्म हमारे जीवन को ऊँचा उठाये।

गुरुवर आचार्य विद्यासागर जी महाराज की जय!

❑❑❑

एक ईंट

पुरानी
दीवार की
एक ईंट
और गिर गई
लगता है जैसे
किसी ने पूछा हो
ज़िन्दगी
और कितनी रह गई ?

- मुनिश्री क्षमासागरजी

उत्तम ब्रह्मचर्य

- ❑ जब हम आत्मानुराग से भर गये हों, देहासक्ति से ऊपर उठ गये हों वहीं ब्रह्मचर्य है।
- ❑ परिणामों की अत्यन्त निर्मलता का नाम है ब्रह्मचर्य।

हम लोगों ने अपने जीवन को अच्छा बनाने के लिए इन दस दिनों का विशेष रूप से लाभ लेने का विचार किया। हमारे पास आज यह आखिरी दिन शेष है अतः हमें अपने जीवन के बारे में विचार करना चाहिये। काश ! हर दिन जीवन का आखिरी दिन मालूम पड़े और रोज ऐसा विचार बना रहे कि मुझे जीवन में जो कुछ करना है वह सब आज ही कर लेना चाहिये, यदि ऐसा हो जाय तब तो हमारे जीवन को अच्छे बनने में देर नहीं लगेगी।

हम सभी ने पिछले दिनों अपनी क्षमता, अपनी सहनशीलता, अपनी मृदुता, अपनी सरलता और पवित्रता इन सबको कायम रखने का विचार किया है। परिस्थितियाँ विषम हैं; प्रतिकूल हैं। काल का प्रभाव कहें या कि हमारी अपनी कमजोरी कहें दोनों ही सम्मिलित रूप से हमारे जीवन को इस संसार में और-और भटकने के लिए ही प्रेरित करते हैं। हमारे जीवन में बहुत थोड़े से अवसर आते हैं जब हम सब विकृतियों से, विषमताओं से अपने को बचाकर जीवन को अच्छा बना सकें। सच्चाई हमारे सामने है। यदि एक बार हमें सच्चाई का भान हो जाता है तब क्षणभर को तो लगता है कि सारा संसार बेमानी है लेकिन फिर कोई न कोई राग हमें घेर लेता है। एक बार अगर जीवन की सच्चाई मालूम पड़ गई है तो हम अपने को स्वयं ही नियन्त्रण में रखें और इस सच्चाई से विमुख न हों, इस तरह का प्रयत्न करना चाहिये। दिनभर में सैंकड़ों इच्छाएं हमारे अन्दर उठा करती हैं; हम उनमें से बुरी इच्छाओं को तो स्थगित कर ही सकते हैं, उनको कल पर टाल सकते हैं- अभी नहीं शाम को करूँगा। ये जो मुझमें/मेरे अन्दर अशुभ करने का विचार उत्पन्न हुआ है उसे मैं शाम को करूँगा, अभी तो जीवन में जो श्रेष्ठ है वह कर लेना है। हम अपनी बुरी इच्छाओं को स्थगित करने के लिए ऐसा भी मन बना

लें तो भी हम अपने जीवन में इन बुरी भावनाओं और बुरी इच्छाओं से बच सकते हैं। यही तो तप है। हमारे जीवन में बहुत कुछ वेस्टेज (निरर्थक-सारहीन) है जो न केवल हमारे जीवन को ही बल्कि दूसरों के जीवन के लिए भी हार्मफुल (हानिप्रद) है, तक़लीफ पहुँचानेवाला है। तो ऐसी चीजों को जो हमारे और दूसरे के जीवन को तक़लीफ पहुँचाती हैं, क्या उनको हमें अपने जीवन से हटाना नहीं चाहिये ? जरूर हटाना चाहिये। धीरे-धीरे करके हमने यह भी विचार बनाया है कि इन चीजों को जीवन से हटा देंगे। और इतना ही नहीं, अपने पास जो कुछ है वह सब भी दूसरों का उपकार करने के लिए, उनको देने में हम कंजूसी नहीं करेंगे। कोई रुपये-पैसे दे तभी दान कहलाये ऐसा नहीं है। कोई अगर किसी के जीवन में सहारा दे, उसे इस बात के लिए आश्वस्त कर दे कि 'तुम निश्चिन्त रहना, तुम्हारी विपत्ति में मैं तुम्हारे साथ हूँ' यदि इतना आश्वासन, इतनी निश्चिन्तता हम अपने बाजूवाले को दे सकें; आपको हमारी तरफ से कभी कोई तक़लीफ नहीं होगी- ऐसा अभयदान अगर हम दे सकें, हमारे पास पैसा नहीं है तब भी यह अभयदान हमारे जीवन को ऊँचा उठा सकता है। हमें अपने-पराये के भेद से ऊँचा उठने का भी प्रयास करना चाहिये, कम से कम विचार तो करें ही; अपने-पराये के भेद से ऊपर नहीं उठा जाता तो भी विचार करना चाहिये, विचार करने में क्या हर्ज है? ऐसा अवसर ढूँढना चाहिये जहाँ अपने पराये के भेद मिट सकें।

मुझे हमेशा आहार की प्रक्रिया में देखने में आता है कि सबके अपने-अपने लोग होते हैं। सबकी कोशिश रहती है कि ये हमारे अपने हैं पहले इनसे; ये हमारे अपने हैं, इनको पहले। उस समय मैं देखता हूँ कि मैं किसको कहूँ कि ये पराया है इससे नहीं ! काश, उन क्षणों में भी हमारे भीतर ये भाव आ जायें कि कोई पराया नहीं है, सब तो अपने हैं तो शायद हमारे मन से ये जो अपने-पराये का भेद है वह धीरे-धीरे करके निकल जायेगा। कठिन बात है, कहना तो बहुत आसान है। मैंने इतने दिनों में जो इतनी बातें कही हैं, इतनी आसानी से कही हैं। भैया ! वे कहने में बहुत आसान है लेकिन एक-एक को जीवन में लाने में बहुत पुरुषार्थ करना पड़ता है। कई जिन्दगियाँ लग जायेंगी, एक जिन्दगी तो इन सब बातों को लाने में बहुत छोटी पड़ जाती है। लेकिन यदि हमने अपना मन बना लिया, अपनी भावना बना ली तो वह भावना खाली नहीं जायेगी। इस बार न सही अगली बार, हमारी ये भावना निरन्तर हमारे साथ बनी रहे कि आचार्य भगवन्तों ने जैसा कहा, जितनी ऊँचाई उन्होंने छुई उसे हमें भी छूना है, हमें भी वहाँ तक पहुँचना है। और आज तो (दशलक्षण पर्व का) आखिरी दिन है। अन्त में जब अपने-पराये का भेद मिट जाता है तब क्या सोच रहता है? क्या आत्मलीनता में कोई सोच

(शेष) रहता है? अपनी आत्मा में लीन हो जाने का नाम ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म के मायने आत्मा है। ऐसी आत्मलीनता जिसमें बाह्य जितने भी पदार्थ हैं उनके प्रति आसक्ति शेष न रहे।

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंध कहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहतस्स।4। समयसार

काम-भोग और बंध की कथा श्रुत (सुनी हुई) है, परिचित है, अनुभव में आई हुई है और अब भी रोज-रोज इसी के अनुभव में, इसी के परिचय में हम अपना जीवन व्यतीत करते हैं।

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।

उस एकत्व-विभक्त आत्मा का न अनुभव, न उसका परिचय, न उसकी बात! हमारे जीवन में बहुत कम अवसर हैं जब हम आत्मानुराग से भर गये हों, देहासक्ति से ऊपर उठ गये हों, यही ब्रह्मचर्य है।

हम लोग पाँचों इन्द्रियों और मन के विषयों में आसक्त होते हैं और अपनी आत्मा के स्वभाव को भूल जाते हैं। थोड़ा-सा अभ्यास करें कि शरीर से हटकर आत्मा की तरफ हमारा ध्यान चला जाये ! कठिन लगेगी यह बात, लेकिन ज्यादा कठिन नहीं है। हम सब लोग कई बार इस चीज का अनुभव कर चुके हैं।

हमारे जीवन की एक घटना जब याद करते हैं तो बड़ा आश्चर्य होता है कि क्या ऐसा सम्भव है? हाँ सम्भव है। हमारा एक बहुत प्यारा मित्र था, अभी भी है। मित्र होने में क्या बाधा है? मैं साधु हो गया तो क्या मेरा कोई मित्र नहीं हो सकता? सभी हो सकते हैं। हाँ, उससे बहुत स्नेह था। वह भोपाल में इन्जीनियरिंग कॉलेज में पढ़ता था और हर हफ्ते सैटरडे (शनिवार) की शाम को घर आता था। हम लोग सन्डे (रविवार) एकसाथ बिताते थे। यह हर हफ्ते का क्रम था। एक दिन (सन्डे को) दोपहर बारह बजे से बैठे हम लोग, सारी हफ्तेभर की चर्चाएं करनी थीं, बातें करते-करते शाम पाँच बज गये। माँ ने आवाज दी- 'क्यों, खाना-वाना नहीं खाना? शाम हो गई।'

तब ध्यान आया- 'अरे! अपन लोग कितने घण्टों से बातें कर रहे हैं, ध्यान ही नहीं रहा।' वह चला गया। उसके जाने के बाद घर के लोग कहने लगे- 'तुम्हारा मित्र अब बड़ी जगह पहुँच गया है तो उसने बड़े बढ़िया-अच्छे कपड़े बनवाये हैं, आज तो बड़ी अच्छी शर्ट पहने था वह!'

मुझे बहुत आश्चर्य हुआ, मेरा तो ध्यान ही नहीं गया, हम लोग पाँच घण्टे तक बातें करते रहे लेकिन वह कौनसे-कैसे कपड़े पहने हुए है इसकी तरफ मेरा ध्यान ही नहीं

गया। यह आत्मानुराग था, देहासक्ति नहीं थी।

हमें इतना ही तो करना है और कोई बड़ी बात थोड़े करनी है! ऐसा अपन कर भी लेते हैं कई बार। यदि ऐसा निरन्तर हो जावे तो हमारा देह से हटकर आत्मा के प्रति अनुराग हो जावे। अभी हमारा अनुराग देह से अधिक और आत्मा से कम होता है। तो क्या आत्मा से भी प्रेम होता है? हाँ, लेकिन स्वार्थवश होता है। वास्तव में अनुराग होने का मतलब है- अपने और दूसरे दोनों के कल्याण की भावना से हमारे अन्दर जो प्रेम होता है वास्तव में वह है ब्रह्मचर्य।

निर्मल परिणाम ही ब्रह्मचर्य

साहित्यकार जैनेन्द्रकुमार ने अपने एक उपन्यास में लिखा है- 'हम अपने पिता की जीवनसाथी को माँ मानते हैं और अब तो अपने बच्चों की माँ भी 'माँ' मालूम पड़ने लगी हैं, ये ही हमारा ब्रह्मचर्य है।' इससे बढ़िया चीज (व्याख्या) हो सकती है इतने आसान शब्दों में? हम अपने पिताजी की जीवनसाथी को माँ मानते हैं, जिस दिन अपने बच्चों की माँ को भी 'माँ' मानने का भाव आ जाये, जिस दिन भीतर मातृत्व का ऐसा भाव उमड़ने लगे, यही भाव प्राणिमात्र के प्रति हो जाये तो समझिये 'ब्रह्मचर्य' घटित हो गया। परिणामों की अत्यन्त निर्मलता का नाम ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य—देह-आसक्ति से पार

बा और बापू दोनों एक सभा में बैठे थे। किसी ने बापू से बा के बारे में पूछ लिया कि- 'लगता है ये आपकी माँ हैं!'

बापू क्षणभर को तो चुप रहे फिर कहा- 'हाँ ये मेरी माँ हैं।' वहाँ जो कार्यकर्ता थे उनको जोर की हँसी आ गई, वे कहने लगे- 'बापू, ऐसा क्यों कह रहे हैं? बा तो आपकी जीवनसाथी हैं।' 'हाँ, जीवनसाथी तो हैं ये हमारी लेकिन अब ये हमारी माँ ज्यादा हो गईं। सवेरे से- हमें जगाती हैं, हमारे कपड़ों की व्यवस्था करती हैं, हमको नहलाती-धुलाती हैं, भोजन कराती हैं और भोजन करते समय पंखा ओढ़ाती रहती हैं और फिर रात में सुलाती है - जाओ सो जाओ, बहुत देर हो गई, तो ये हमारी माँ हुईं कि नहीं ?'

ऐसा भाव भीतर आ जाये, परिणामों की इतनी निर्मलता हो जावे। सम्बन्ध वही है, सम्बन्ध में कोई कड़वाहट और खटास नहीं आई, बल्कि इतनी मृदुता इतनी निर्मलता आ गई है। जब देह में आसक्ति थी तो संसार बढ़ाया, बच्चों को जन्म दिया, इतना ही नहीं, पाल-पोसकर उन्हें धर्म भी दे दिया, अब वह आसक्ति नहीं रही, प्रेम ज्यों का त्यों

है। गृहस्थी में रहकर कोई ब्रह्मचर्य का पालन कैसे करता है? ऐसे ही तो करता है। एक दिन वही गृहस्थ देह की आसक्ति से पार होकर आगे बढ़ता है। पर फिर भी अपने प्रेम को बनाये रखता है, उस जीव के प्रति आत्मानुराग फिर भी रहता है कि हमने एकसाथ मिल-जुलकर अपना जीवन व्यतीत किया। इसीलिए विवाह को भी ब्रह्मचर्य अणुव्रत में सम्मिलित कर लिया। मैं जब पढ़ता हूँ तो मुझे बड़ा आश्चर्य होता है कि किसी ने विवाह करके यदि बाकी सबके प्रति अपने मन को निर्मल कर लिया तो कह रहे हैं कि वह ब्रह्मचर्य अणुव्रत, स्वदार संतोष अणुव्रत हो गया ! ऐसी प्रक्रिया रखने का उद्देश्य यही था कि श्रावक इस चीज का अनुभव करे।

मेरे अपने जीवन में एक और घटना घटी, मैं इसे हमेशा सुनाया करता हूँ। सन् अठहत्तर (१९७८) की बात है। हमारे गृहस्थ जीवन की बुआ लगती थीं, वे आचार्य महाराज के चरणों में गईं, उन्होंने वहाँ ब्रह्मचर्य व्रत लिया। हमारे समझ में नहीं आया, हम उस समय व्रत आदि इतना नहीं समझते थे। तो हमने बाहर आकर उनसे पूछ लिया- 'बुआजी, अब इसमें क्या करना पड़ेगा? आपने व्रत ले लिया तो !'

वे बोलीं- 'अब तुमको क्या बताऊँ? फिर कभी बताऊँगी।'

हमने कहा- 'ठीक है।' मन में अगर सहजता है तो इन चीजों के बारे में ज्यादा इन्ट्रेस्ट (रुचि) उत्पन्न नहीं होता। फिर एक दिन उनके घर गये थे। वहाँ सोफा पर बैठे थे वे पलंग पर बैठी थीं। इतने में उनके जीवनसाथी याने हमारे फूफाजी आये। सम्बन्ध बने रहें और उन्हें कोई नाम न दें- ये अच्छा लगता है; हाँ कोई नाम नहीं, फिर भी सम्बन्ध हों! आज तो जिनको नाम दे रखे हैं उन सम्बन्धों तक का निर्वाह नहीं कर पाते अपन! यदि सम्बन्धों का निर्वाह हो और अपन नाम न दें तो भी चल सकता है। हाँ तो, वे बुआजी के पास आकर बैठ गये। बुआजी मुझसे बोलीं- 'इधर आओ।' मैं पहुँचा। उन्होंने मुझे अपनी एक बाजू में बैठा लिया और बोलीं- 'मैंने उस दिन ब्रह्मचर्य व्रत लिया था तो तुमने पूछा था कि इसके मायने क्या होते हैं?' फिर उन्होंने एक हाथ मेरे ऊपर रखा और दूसरा फूफाजी पर रखा और बोलीं-'इस हाथ में जो धारा बह रही है वह अलग है और उस हाथ में जो बह रही है वह अलग है। जितनी निर्मलता से हाथ तुम पर रखा है उतनी ही निर्मलता से जिस दिन इन पर/यहाँ पर रख दूँगी उस दिन मेरा ब्रह्मचर्य होगा।'

क्या इस तरह का कोई विचार हमारे मन में है! या कि सिर्फ हम इस चीज को अलग ही समझ बैठे! हमें तो कई बार ऐसा लगता है कि इस चीज को हमने ठीक से समझा नहीं है। ये परिणामों की निर्मलता का व्रत है। हम लोगों ने इसको बहुत कठिन, बहुत मुश्किल-सा मान लिया। और किसी भी व्यक्ति के प्रति हम हमारी आँख बहुत

जल्दी खराब कर लेते हैं, हम इससे बचें, उसकी देह में आसक्ति न रखकर उसके जीवन के कल्याण के प्रति अपने मन में भाव उत्पन्न करें तो कोई कारण नहीं फिर हम इस ब्रह्मचर्य को न समझ सकें।

'संसार में विषबेल नारी, तज गये जोगीश्वरा।'

इस पंक्ति को कई लोगों ने बदलने की कोशिश की। कई लोगों ने इसे पीड़ादायक बताया। माँ लोग बैठी हैं, उनको इस पंक्ति को पढ़ने में बहुत पीड़ा महसूस होती है। लेकिन लिखनेवाले ने तो ठीक ही लिखा है, उन्होंने गलत नहीं लिखा, हमारी समझ थोड़ी कम पड़ गई। उन्होंने लिखा- 'संसार में विषबेल नारी', उन्होंने 'संसार में विषबेल माँ', 'संसार में विषबेल बेटी' नहीं लिखा। 'नारी' मेरी अपनी वासना है वरना तो वह किसी की माँ है, किसी की बेटी है, किसी की बहन है, सिर्फ मैंने अपनी वासना से उसे जो रूप दिया है उसके अलावा और कोई रूप नहीं है उसे तजने का। अपने भीतर की वासनाओं और कामनाओं को तजने का भाव था, किसी को दोषी ठहराने का नहीं था। कितना स्पष्ट-सा अर्थ है लेकिन लोग बहुत स्थूल अर्थ लेते हैं इन चीजों का और निषेध करने में अपने को बड़ा मानते हैं। ध्यान रखना इन चीजों का जो जितना निगेशन (निषेध, प्रतिवाद, खंडन) करे समझना उसके भीतर आसक्ति बहुत है। ये साइकॉलॉजी (मनोविज्ञान) का नियम है। 'नवनीत' पत्रिका में बहुत पहले एक कविता पढ़ी थी-

अभी तुमने
आग के रंग के कपड़े पहने हैं।
अभी तुम्हारी कामवासना
योग की आग में
जली नहीं है,
अभी तुम्हें
स्त्री और पुरुष में
फर्क़ नज़र आता है।
स्त्री के पीछे भागना
और
स्त्री से दूर भागना,
यात्रा दोनों में जारी है।
अभी
संन्यास की यात्रा शुरू नहीं हुई।

हाँ, यात्रा दोनों में जारी है, कोई पीछे भाग रहा है कोई उससे दूर भाग रहा है। दोनों स्थितियों के बीच साम्यभाव हो तब घटित होता है ब्रह्मचर्य।

शुकदेव को बीस वर्ष की आयु में ही वैराग्य जाग गया और वे वस्त्र त्याग नग्न हो घर से निकल गये।

एक दिन वे नदी के किनारे से जा रहे थे, नदी में माँ- बहन लोग स्नान कर रही थीं, वे उन्हें देखकर न घबराईं, न लजाईं बल्कि निश्चिन्तता से स्नान करती रहीं और वह बीस वर्ष का युवक शांति से आगे निकल गया। उनके पीछे थोड़ी दूर पर ही उनके अस्सी वर्षीय पिता आ रहे थे। उन महिलाओं ने जैसे ही उनके पिताजी को देखा वे लजाकर-घबराकर अपने कपड़े सम्हालने लगीं। यह बात उन वृद्ध को अच्छी नहीं लगी। उन्होंने कहा- 'जब मेरा बीस वर्ष का जवान बेटा इधर से निकल गया तब तो तुमने अपने कपड़े नहीं सम्हाले और मैं इतना वृद्ध, अस्सी वर्ष का हो गया मेरे सामने तुम कपड़े सम्हालती हो !'

महिलाओं ने कहा- 'बाबाजी ! सुनो, उन्हें (तुम्हारे बेटे को) तो अपनी ही सुध नहीं पर आप अगर अपनी आँख सम्हाल लो तो हमें अपने कपड़े सम्हालने की जरूरत नहीं पड़ेगी।'

ब्रह्मचर्य – ये अन्तरंग परिणामों की बात है

ब्रह्मचर्य इतना आसान नहीं, ये अन्तरंग के परिणामों की बात है।

बुद्ध के संघ का एक उदाहरण है-

एक वृद्ध (बौद्ध) भिक्षु और एक युवा (बौद्ध) भिक्षु दोनों नदी किनारे से चले जा रहे थे। छोटे-छोटे उदाहरण हैं ये ताकि समझ में आये कि हम लोगों ने इस चीज को किस तरह कितना विकृत कर दिया! छोटे बच्चे में भी हम ये विकृतियां डाल देते हैं, वे नहीं सीखते, हम डालते हैं- हम सिखाते हैं उन्हें। हाँ तो वे दोनों भिक्षु चले जा रहे हैं। इतने में देखा कि कोई बहन नदी में डूब रही है और वह बचाओ-बचाओ के लिए आवाज लगा रही है। वह युवा भिक्षु तुरन्त नदी में कूदा और उस बहन को नदी से बाहर निकाल लाया। उसने बचा लिया उस बहन को।

बस, अब तो वृद्ध भिक्षु गर्म हो गये- 'अरे, तुमने उस महिला को छू लिया ! अब मैं बुद्ध से कहूँगा और तुम्हें दण्ड/प्रायश्चित दिलवाऊंगा।'

वे सारे रास्ते उस युवा भिक्षु को जलील करते रहे पर वह चुपचाप रहा। दोनों बुद्ध के सामने पहुँचे। वृद्ध भिक्षु ने कहा- 'भन्ते! इसको दण्ड/प्रायश्चित मिलना चाहिये।'

बुद्ध ने पूछा- 'काहे के लिए ?' 'किस बात का ?'

'इस बात का कि इसने युवती को उठाकर नदी से बाहर रखा, इसने उसे छू लिया, इसका ब्रह्मचर्य नहीं रहा। इसलिए इसे प्रायश्चित मिलना चाहिये।' वृद्ध भिक्षु ने कहा।

बुद्ध ने कहा- 'प्रायश्चित पहले तुम ले लो।'

'मैं, मैं किस बात का प्रायश्चित लूं?' विस्मय से पूछा उन्होंने।

बुद्ध ने कहा- 'इसने तो उस महिला को उठाकर वहाँ ही रख दिया पर तुम तो उसे अपने मानस में उठाकर यहाँ तक ले आये। तुम्हारे मन में अभी भी है वह, तुम इतनी देर से उसे ढो रहे हो। इसने तो वहाँ रखा और भूल भी गया।'

मैं ये छोटे-छोटे उदाहरण इसलिए कह रहा हूँ जिससे हमारे अन्दर बहुत स्पष्ट हो जाय कि आखिर बात क्या है? आखिर हमारा ध्यान इन सब चीजों की तरफ जाता क्यों है? क्यों विकृत होता है हमारा मन? कभी हम दो लोगों को एकसाथ देखते हैं तो उनके मन में कोई विकार हो या न हो हमारे मन में उनके लिए विकार क्यों आता है? हमें ऐसा क्यों दिखाई पड़ता है कि ये गलत चीज है! वह जैसा है- वैसा है, पर हमारा मन क्यों विकृत होता है? हमें यह क्यों नहीं समझ आता है? इसका मतलब है हममें कहीं चूक है। हमारी अपनी कमजोरी है जिसे हमें निकालना चाहिये। ये मन की मलिनता है, इसको हटाने का उपाय करना चाहिये।

चार उपाय

आचार्य भगवन्तों ने इसके लिए चार बातें लिखी हैं-

१. **स्वस्थ मानसिकता** - स्वस्थ मानसिकता है कि किसी के बारे में हमारे मन में विकृति न आये।

२. **इन्द्रियों का संयम** - पाँचों इन्द्रियों का संयम, ऐसा नहीं कि केवल एक इन्द्रिय का संयम हो शेष का नहीं। खाने की लोलुपता खूब है और कह रहे हैं कि हम ब्रह्मचर्य लें? क्या काम का है वह? **पाँचों इन्द्रियों के नियन्त्रण का नाम ब्रह्मचर्य है।** अकेले स्त्रीमात्र का या पुरुषमात्र का त्याग करने का नाम ब्रह्मचर्य नहीं है, ये तो आसान है, ये तो कोई भी कर लेगा! लेकिन अन्तरंग में पाँचों इन्द्रियों के विषयों की विरक्ति होना, अन्तरंग में साम्यभाव आना- ये है वास्तविकता।

३. **कल्याण मित्र का संसर्ग** - ये बड़ा कठिन है। ऐसी मित्रता, ऐसे लोगों की

संगति जो निरन्तर हमारे कल्याण की ही बात करते हैं। जो हमें संसार में विषय-कषाय में पतित करने के लिए हमारी संगति नहीं करते बल्कि हमारे कल्याण के लिए हमारे साथ हैं, ऐसी संगति खोजना जिससे हमारे परिणाम हमेशा अच्छे रहें। अच्छे लोगों के बीच उठना-बैठना, ऐसा देखना-ऐसा पढ़ना-ऐसा सुनना जिससे मन विकृत न हो; मन में विकार उत्पन्न न हों।

४. और चौथे नम्बर पर रखा- **भगवान की भक्ति, पूजा और प्रार्थना** - यह भी हमारे मन को पाँचों इन्द्रियों के विषयों से बचाने का उपाय है। अभी इतनी देर यहाँ भगवान की पूजा-आराधना में लगे हैं, बताइये किसके मन में किसी के प्रति कौनसा दुराव, किसके मन में कौनसी विकृति आई ?

परिणामों की निर्मलता के लिए ये चार उपाय बतायें हैं- १. हमेशा मन को स्वस्थ रखना, दूसरों के बारे में विकृत नहीं करना, २. इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना ३. अच्छी संगति में रहना, ४. भगवान की भक्ति प्रार्थना करना- ये ही उपाय हैं भैया!

शिवाजी के जीवन की एक घटना है- शिवाजी के दरबार में एक माँ आई, युवा थीं। उसने कहा- 'मेरी प्रार्थना पर ध्यान दिया जाय, आप राजा हैं। मैं एक कामना लेकर आई हूँ'- अधिक स्पष्ट तो वह नहीं कह पाई, पर बोली कि- 'मैं कामना लेकर आई हूँ कि मुझे आपके जैसा एक पुत्र प्राप्त हो।' शिवाजी ने क्षणभर विचार किया फिर तुरन्त सिंहासन से उठे और उम्र में स्वयं से छोटी होने के बावजूद उस महिला के चरण स्पर्श करके कहा कि- 'माँ ! आज से आप मुझे ही पुत्ररूप में स्वीकार करें। आज से मैं आपका पुत्र हूँ, यही चाहती थीं न आप, मेरे जैसा पुत्र ! मैं ही हूँ आपका पुत्र।'

क्या इस तरह की भावना हमारे भीतर उत्पन्न होती है? जबकि अपने आपको धर्मात्मा समझनेवाले लोग भी हैं। माफ कीजियेगा, आपको बुरा लगेगा पर मैं इस भावना से नहीं कह रहा, मैं अपने आपको भी शामिल कर रहा हूँ इसमें। अपन लोग कितना मान लेते हैं कि अपन कितना धर्म कर रहे हैं! अपन लोग कितने समझदार हैं! लेकिन भैया, कहाँ हैं अपन समझदार! कहाँ हैं अपन धर्मात्मा ! इतनी छोटी-छोटी बातें हमारे जीवन में नहीं आ पातीं और हम बड़ी-बड़ी बातें सोचते हैं कि हमने ये कर लिया, हमने वह कर लिया। नहीं, हमें इन चीजों की तरफ भी ध्यान देना चाहिए और अपने परिणामों को सम्हालने का भी प्रयत्न करना चाहिये।

ग्रन्थों में विजय और विजया का कथानक आता है, सब परिचित हैं उससे। दोनों ने गृहस्थी होने से पूर्व ही पन्द्रह-पन्द्रह दिन का व्रत ले लिया। संयोग ऐसा हुआ कि इन दोनों का परस्पर विवाह-बंधन हुआ। तब ज्ञात हुआ कि एक ने शुक्ल पक्ष के पन्द्रह दिन

का व्रत लिया था तो दूसरे ने कृष्ण पक्ष के पन्द्रह दिन का। पर दोनों ने जीवनभर एक-दूसरे के व्रत का निर्वाह किया। अपने-अपने व्रत का निर्वाह तो दुनिया कर लेती है। ये भी हो सकता था कि मेरे व्रत का निर्वाह हो गया, पन्द्रह दिन बीत गये, अब मैं निर्वाह नहीं करूँगा और दूसरा भी यही चाहेगा कि अब मेरे पन्द्रह दिन पूर्ण हुए अब मैं आगे निर्वाह नहीं करूँगा। लेकिन नहीं भैया ! उन्होंने कहा- 'ठीक है, मेरे पन्द्रह दिन के व्रत का निर्वाह हो गया अब तुम्हारे पन्द्रह दिनों का निर्वाह भी करूँगा', दोनों ने यही कहा और परस्पर यही किया। ऐसी निर्मलता और फिर पूरे जीवन साथ रहे! देहासक्ति नहीं रही लेकिन आत्मा के उत्थान का, आत्मा के कल्याण का राग बना रहा।

बहुत उदाहरण हैं इस तरह के जिनसे अपन को प्रेरणा लेनी चाहिए।

आज तो अपन ने समय की सीमाएं तोड़ दीं कोई अनुशासन नहीं रखा, सब आराम से बैठे हैं। आज सबको फुर्सत है, किसी को कुछ करना नहीं होगा। लेकिन फिर भी मैं आपसे भावना भाऊँगा कि अपन सब लोगों ने इतने दिनों में अपने जीवन को अच्छा बनाने के लिए जो प्रक्रिया शुरू की है उसको कन्टीन्यू (निरन्तर) बनाये रखें और अपने जीवन को जितना बन सके ऊँचा उठाएं, निर्मल बनाएं, इसी भावना के साथ बोलिए –

गुरुवर आचार्य विद्यासागरजी महाराज की जय! ❑❑❑

था

किसी के
मरने पर
मालूम पड़ता है
कि वह था
और अभी तक
ज़िन्दा था।

- मुनिश्री क्षमासागरजी

क्षमापर्व

- ❑ दूसरों को सुधारने की अपेक्षा पहले हम हमारा जीवन सुधारें।
- ❑ ज्ञान के साथ-साथ निर्मलता बढ़ती चली जानी चाहिये।

विचारों की यात्रा

हम सभी लोगों ने अपने जीवन को अच्छा बनाने के लिए पिछले दिनों बहुत विचार किया है। हमारे विचारों से हमारा प्रयत्न भले ही छोटा क्यों न हो लेकिन हमारे ये विचार हमारे जीवन को परिवर्तित करेंगे- ऐसा सोच करके ही हमने इस विचार की यात्रा को शुरू किया है। हमारे भीतर कभी क्रोध आता है तो हम बहुत कमजोर पड़ जाते हैं। यदि हम अपनी क्षमता, अपनी सहनशीलता को बढ़ाना चाहें तो इसके लिए जरूरी है कि हम क्षमाभाव धारण करें। लगता हमेशा यह ही है कि यदि हम दूसरे के सामने झुक जायेंगे तो शायद हम कमजोर माने जायेंगे। हम दूसरे की सब बातें मान लेंगे और उसके अगेंस्ट (विरुद्ध) में कुछ भी क्रिया नहीं करेंगे तो लोग हमें बुद्धु समझेंगे। लेकिन हमने पिछले दिनों विचार करके देखा है और अपने जीवन में अनुभव करके भी देखा है कि ऐसा नहीं है। **हम जितने शान्त और सहज होकर जीवन जीते हैं हमारी क्षमता उतनी ही अधिक बढ़ जाती है। क्रोध हमारे जीवन को ऊँचाइयाँ नहीं देता बल्कि वह हमें हमारे स्वभाव से भी पतित करता है।** कठोरता के अवसर पर हम अपने जीवन की कोमलता को बनाये रखें- इस पर भी हमने विचार किया। यहाँ चारों तरफ धोखा है, छल-कपट है, दिखावा है, आडम्बर है इसके बावजूद भी सरलता कैसे बनी रहे- हमने इस पर भी विचार किया है। हमने देखा कि हमारे भीतर कितनी बुराइयाँ हैं ! वे हमें कितनी जल्दी घेर लेती हैं, हमारे मन को मलिन कर देती हैं, उन मलिनताओं से बचने के लिए क्या उपाय किये जा सकते हैं, इस पर भी विचार किया। हम सब जानते हैं कि सच्चाई क्या है लेकिन हम सचाई को स्वीकार नहीं कर पाते। हमने पिछले दिनों इस बात पर भी विचार किया है कि क्या बात है कि हम सच्चाई को स्वीकार नहीं कर

पाते! तो हमने देखा कि हम संसार में कभी सच्चाई को सम्मानित होते नहीं देखते बल्कि सच्चाईयुक्त व्यक्ति को पनिश्ड (दण्डित) होते देखा है और इसी वजह से हमारा मन होता है कि क्या मतलब है सच्चाई को अपनाने का? लेकिन हमारा ये विचार अधूरा है। **सच्चाई किसी सम्मान की मोहताज थोड़े होती है!** यदि हमने अपने जीवन को सच्चा बना लिया है तो हमारा इससे बड़ा सम्मान और क्या हो सकता है? इसलिए हमने अपने जीवन को, अपनी वाणी को, अपने सभी कार्यों को सच्चा बनाने का मन बनाया है। **यदि एक बार हमारे जीवन में सचाई आ जाती है तो जरूरी नहीं कि वह हमेशा बनी रहे, इसके लिए उसकी साज-सम्हाल करना बहुत जरूरी है। जो व्यक्ति अपने आप पर नियन्त्रण नहीं रखता है, अपना जीवन लापरवाही से जीता है तो उसके हाथ से सच्चाई को फिसलने में देर नहीं लगती।** इसलिए हमने अपने जीवन को अनुशासित और आत्म-नियन्त्रित करने का प्रयास किया है। हमारे जीवन को अनुशासित करने के बाद भी, आत्म-नियन्त्रित करने के बाद भी हमारे भीतर इच्छाएँ जोर मारती हैं और वे हमें इस नियन्त्रण को खो देने के लिए प्रेरित करती हैं। जब हमें इच्छाएं घेरती हैं तब हमारा अपने पर नियन्त्रण नहीं रह जाता है। पिछले दिनों हमने तय किया है कि **हम अपनी उन्हीं इच्छाओं को पूरा करेंगे जिनसे कि हमारा उत्थान हो और किसी दूसरे का बिगाड़ भी न हो।** हम उन इच्छाओं की पूर्ति नहीं करेंगे जिनसे दूसरों का और हमारा स्वभावगत पतन हो। जब हमारे भीतर इच्छाएँ कम होने लगती हैं तो लगता है कि कितना कुछ तो है मेरे पास! पहले तो लगता था कि कुछ भी नहीं है मेरे पास, और चाहिये, और चाहिये लेकिन अब इच्छाएं ही बहुत कम हो गई हैं तो जो कुछ है वह भी बहुत लगने लगता है, और लगता है कि ये सब काम का नहीं है, जिसके काम का है उसको दे दो, यदि हमारा मन ऐसा भी बनने लगे तो एक और क्वालिटी (विशेषता) अपने आपको दे देना है। तब हम कितने ऊँचे उठ जाते हैं ! लगता तो यह है कि इस तरह से हम पूरे खाली हो जायेंगे, लेकिन ऐसा होता नहीं है। देते समय हमारे भीतर ये लगा कि 'हम देते हैं - मैं देता हूँ' तो इकदम ख्याल आया कि मेरा यहाँ है क्या जिसे देने का मैं अहंकार करूँ? मैं अपने और पराये का, तेरे और मेरे का जो भेद रखता हूँ वह ठीक नहीं है। **यहाँ कोई पराया नहीं है और यहाँ कुछ भी मेरा नहीं है।** जब हमारी इस तरह की मानसिकता बनती है तब एक और क्वालिटी (विशेषता) हमारे भीतर उत्पन्न होती है। यह भी समझा कि हाँ, ऐसा भी करके देखना चाहिये और अन्त में आकाश की तरह सबको अपने में समाकर, सबके प्रति अपने भावों में उज्ज्वलता और निर्मलता रखकर किसी के प्रति भी हमारे मन में विकार उत्पन्न न हो । पिछले दिनों

अपने जीवन को इस तरह चलाने का अभ्यास किया है।

मैं सोचता हूँ कि धर्म के जो ये दस दिन हैं इनमें हमने अपनी गुणवत्ता को बढ़ाकर अपने जीवन को सजाया और सँवारा है आज उसकी अभिव्यक्ति का दिन है कि क्या सचमुच हमने जिन बातों का विचार किया है वे हमारे भीतर पूर्णतः न सही, आंशिक रूप से ही आई हैं कि नहीं! हमारा हृदय इन सब चीजों से कितना विशद और कितना उदार हुआ है? प्राणिमात्र के प्रति हमारे मन में सद्भावना का विचार कितना आया है? इसकी अभिव्यक्ति का दिन है आज। जब हमारा मन इतनी सारी गुणवत्ताओं से भर जाता है तब हमारा मन होता है कि जाकर लोगों से कहूँ कि हमारे बाबत आप अपने मन में कोई मलिनता मत रखना, हमने इन दस दिनों के अभ्यास से आपके प्रति हमारे मन में जो भी मलिनता आ गई थी उसे हटा दिया है। हमारे मन में जब तक दूसरे के प्रति कलुषता है तब तक दूसरे से अपने प्रति निर्मलता की अपेक्षा नहीं रख सकते। हमारे मन में जब तक दूसरे के प्रति क्षमा का भाव नहीं है तब तक हम दूसरे से अपने लिए क्षमा की अपेक्षा कैसे रखें ? आचार्य भगवन्त का कहना है कि यह प्रक्रिया बहुत फॉर्मल (औपचारिक, ऊपरी) हो जायेगी।

खम्मामि सव्वजीवाणं, सव्वे जीवा खमन्तु मे।

मैं पहले सब जीवों को क्षमा करता हूँ और अपेक्षा रखता हूँ कि सब जीव मुझे भी क्षमा करें। इससे भी ऊँचे उठकर कहा है कि ऐसी अपेक्षा भी न रखें कि कोई मुझे क्षमा करे। मैं सबको क्षमा करूँ यह मेरा कर्तव्य है। अगला मुझे क्षमा करे या न करे ये उसकी च्वाइस (पसन्द, रुचि) है, ये उसका अपना दायित्व है पर मैंने अपनी तरफ से उसे क्षमा कर दिया है।

इन दस दिनों में हमारे जीवन में क्या प्रोटॅक्शन (बचाव, सुरक्षा) किया है, इन दस दिनों में हमने क्या संचित किया है? जो-जो श्रेष्ठताएं हमने संचित की हैं उनकी अभिव्यक्ति का, उनके मेनीफेस्टेशन (प्रकटीकरण) का, उनके विस्तार का दिन है क्षमावणी जब हम दूसरे से कह सकें कि आपके बारे में मेरे मन में पहले थोड़ी सी मलिनता थी, थोड़ी कलुषता थी, मैं आपको ठीक नहीं समझ पाया था, अब लगता है कि मुझे मेरे मन को आपके प्रति निर्मल कर लेना चाहिये, और ऐसा मैंने कर लिया है। बस, इतना ही-इतना ही कहने के लिए हम एक-दूसरे से मिलते हैं। और शायद हम कहें भी नहीं पर हम मिल भी लेते हैं तो यह तय हो जाता है कि अब हमारे मन में आपके प्रति कोई कलुषता नहीं रही। ये परस्पर मिलने का जो व्यवहार था उसका उद्देश्य यही था कि मैं अपनी तरफ से आपके प्रति अपनी मलिनताओं को हटाने का प्रयास/प्रयत्न कर रहा हूँ। मैंने इन दस

दिनों में यही सीखा है। पूरे एक वर्ष तक मैं इस प्रक्रिया को बनाये रखूँगा। मेरे शेष तीन सौ पचपन दिन इन दस दिनों के अनुरूप ही संचालित होंगे। ये बात जुदा है कि हमारे ये दस दिन जितने बढ़िया गुजरते हैं शायद उसके बाद के दिन फिर धीरे-धीरे हमारे मन में कलुषताएँ-मलिनताएँ लाने में सहयोगी हो जाते हैं। हमारा प्रयत्न तो यही होना चाहिये कि ये दस दिन हमारे जीवन को इस तरह रोटेट (परिवर्तन) कर दें, इस तरह का एक मूवमेन्ट (गति, झुकाव, प्रवृत्ति) दे दें कि शेष तीन सौ पचपन दिन भी ऐसे ही बीतें जिनमें कि हमारी गुणवत्ता बढ़ती जाये और हमारे मन की मलिनताएँ नष्ट होती जाएँ। यह मलिनताओं को दूर करने का दिन है। यदि व्यक्ति विशेष से कोई मलिनता है तो वह अपने मन से निकाल दें तो भैया, शत्रु तो कोई नहीं होगा! **शत्रु वह होता है जो अपने भीतर शत्रुता का भाव डालता है।** इस संसार में बाहर यदि देखा जाये तो कोई मित्र और कोई शत्रु नहीं है। यदि हमारे मन में प्राणिमात्र के प्रति मित्रता है तो सब हमारे मित्र हैं और यदि हमारे मन में किसी के प्रति कटुता का भाव है तो वह भले ही हमारा शत्रु न हो पर हम अपने शत्रु पहले बन जाते हैं। आज इस शत्रुता के भाव को हटाने का दिन है, मलिनता को हटाने का दिन है।

मेरे मन में यह बात आती है कि हम अपने-अपने लोगों से ही कह लेते हैं ऐसा, हाँ भैया, जिसे हम अपना मान लेते हैं सबसे ज्यादा खतरा उसी से होता है। कौरवों और पाण्डवों को लड़ाई अपनों से ही लड़नी पड़ी थी। वहाँ कौन पराया था? जब अर्जुन युद्ध के मैदान में खड़े होकर सामने तीर चलाते हैं तो एक बार तो मोह से ग्रस्त हो जाते हैं कि ये पितामह हैं, ये गुरु हैं, ये बड़े-मेरे अपने लोग हैं, क्या मैं इनसे लड़ूँगा? ये मेरे से नहीं होगा, और रख दिया अपना धनुष-बाण। मैं तो इन सबकी आधीनता स्वीकार कर लेता हूँ। लेकिन नहीं, यहाँ मोह जागृत हो गया था। **जहाँ मोह जागृत हो जाता है वहाँ पर मलिनता आये बिना नहीं रहती।** इसलिए शत्रु से इतना ज्यादा खतरा नहीं होता क्योंकि वह तो डिक्लेयर्ड (घोषित) शत्रु है, यह शत्रु है इससे सम्हलकर रहना है! सबसे ज्यादा खतरा होता है अपनों से। हमने जो अपनों से आत्मीयता बनाये रखी है कहीं ऐसा न हो कि किसी भी क्षण वह टूट जाये, तब/इसलिए हम जाकर देखकर आते हैं कि हमारे प्रति आपका भाव ज्यों का त्यों है या कहीं बदल तो नहीं गया? लगता बहुत फॉर्मल (दिखावटी) है लेकिन इसके पीछे उद्देश्य बहुत बड़ा था। आज मेरे पचास लोग हैं तो उन पचास को/से तो मिलकर आऊँ! हो सकता है कि पचास मेरे अपने हैं लेकिन पाँच सौ ऐसे हों जिन्हें मैं पराया मानता हूँ पर अपने एक मित्र के लिए मै अपने सौ शत्रुओं की भी चिन्ता नहीं करूँगा। उसके लिए अपना जीवन भी दे दूँगा- ये कॉन्सेप्ट (भावना,

संकल्पना) रहा होगा और इसी वजह से हमारे जो सबसे निकट है उसके पास हम सबसे पहले जाते हैं क्षमायाचना के लिए कि तुम्हारे प्रति मेरे मन में कलुषता आने की सम्भावना ज्यादा है। शत्रु के प्रति तो तय है कि कलुषता है पर तुम्हारे प्रति न आ जाये कलुषता ! किसी भी क्षण आ सकती है क्योंकि मेरा मन किसी भी क्षण कलुषता से घिर सकता है। शायद इसी वजह से जो जितना निकट है सबसे पहले उसके पास जाकर कहते हैं कि मेरे प्रति आपके मन में कोई दुर्भाव तो नहीं है न ! मेरे मन में तो नहीं है, तभी तो आया हूँ चलकर यहाँ। आप आश्चर्य करेंगे- बहुत छोटी सी चीज है ये लेकिन जिन्होंने इसे शुरू किया होगा उनका कितना गहरा सोच रहा होगा !

दो भाइयों में बोलचाल नहीं था, पन्द्रह बरस बीत गये थे। हाँ, सतना की घटना है ये, सन बानवें (१९९२) में चातुर्मास था वहाँ। दोनों में जो बड़े थे वे मेरे साथ आहार में रोज जाया करते थे। एक दिन ऐसा हुआ कि छोटे भैया के घर चौका लगा। बरसों से बोलचाल बंद थी दोनों भाइयों में, आपस में आते-जाते नहीं थे वे लोग। दोनों अपने ही तो थे, पराये थोड़े हैं! एक माँ के जाये हैं, इतने अपने लेकिन फिर भी मलिनता आने में देर नहीं लगी। हाँ, अपनों के प्रति बहुत जल्दी मलिनता आ जाती है और अपनों के सामने झुकना भी उतना ही जल्दी होता है। बड़े भैया आहार के समय साथ, चौका छोटे भैया के ! दरवाजे पर जाकर थोड़ा सकुचाये कि महाराज का आहार आज इनके है ! मेरा तो रोज का नियम है कि जहाँ भी आहार हो वहाँ आहार देने जाऊँ, फिर आज? थोड़ी-सी दुविधा ! फिर तुरन्त ही उनके मन से दुविधा साफ हो गई- 'इसमें क्या? मैं तो महाराज को आहार देने जा रहा हूँ। मैं कोई उसके घर में थोड़े जा रहा हूँ, मैं तो महाराज के पास जा रहा हूँ, जहाँ महाराज होंगे वहाँ ही जाऊँगा !' शायद छोटे भैया भी यही इन्तजार कर रहे थे। जैसे ही उनको ऊपर चढ़ते देखा पहले तो मन डगमगाया फिर बाद में मेरे देखते-देखते, मेरे ही सामने खड़े-खड़े खुशी में आँसू पौंछने लगे- 'बड़े भैया मेरे बिना बुलाये मेरे घर आ गये!' अब अन्तराय न हो जाये इसलिए चुपचाप आहार देते रहे, वैसे तो मन बहुत रोने को हो रहा होगा! बड़े भैया को आगे कर दिया, आप दो आहार। और बस उसके बाद न किसी प्रोग्राम (आयोजन) की जरूरत पड़ी, न किसी के कहने की जरूरत पड़ी, सब बोलचाल हो गया। न पंचायत बिठानी पड़ी कहलाने को कि मिलान करवा दो। ऐसे सहज रूप से सम्बन्ध सुधर जाते हैं कई बार। पुराने लोगों ने, हम लोगों ने ये जो छोटी-सी परम्परा डाल रखी है यह कई बार कितनी महत्त्वपूर्ण हो जाती है !

छोटी-छोटी-सी घटनाएँ हमारे जीवन को बहुत बड़ा परिवर्तन देकर चली जाती

हैं। सबसे बड़ी चीज तो ये है कि हमारे मन में यदि कोई अपराध-बोध है तो सबसे पहले हमें क्षमाभाव धारण करना है। उनसे कोई भूल होती है तो हम ये इन्कार नहीं कर सकते हैं कि मेरे से ऐसी भूल नहीं हो सकती! मेरे से भी ऐसी गलती हो सकती है!

एक चीज और – हम लोग हमेशा अपनी गलती को तो अपनी मजबूरी मानते हैं और दूसरे से अपेक्षा करते हैं कि वह उस गलती को क्षमा कर दे लेकिन दूसरे की गलती को उसकी कमजोरी मानकर उसे दण्डित करना चाहते हैं। वही गलती हम करें तो मजबूरी है हमारी, वह गलती क्षमा के लायक है और अगर कोई दूसरा वही गलती करे तो वह उसकी कमजोरी है और वह दण्ड का भागीदार है। ये जो मानसिकता है यह हमारे मन में इस क्षमाभाव को धारण नहीं करने देती। बहुत मुश्किल है ये दोनों एकसाथ होना। दूसरे की क्षमा तो चाहते हैं पर दूसरे के प्रति क्षमाभाव धारण नहीं करते। वाणी से दूसरे को क्षमा कर देना और उसके प्रति अपने मन को निष्कलुष बना लेना इन दोनों चीजों में बहुत अन्तर है। हम वाणी से आसानी से क्षमा कर सकते हैं कि जाइये क्षमा कर दिया लेकिन क्या मन पहले जैसा निर्मल हो पाता है ? बच्चों के जैसे ? बच्चे आपस में खूब लड़-झगड़ लेते हैं लेकिन कुछ ही देर में भूल जाते हैं और मन पहले जैसा निर्मल हो जाता है उनका। क्या क्षमाभाव धारण करने के बाद हमारा मन भी ऐसे ही पहले जैसा हो पाता है या थोड़ी कसक भीतर बनी रहती है? अब जाकर देखना, यहाँ नहीं, अपने घर के किसी अकेले कोने में बैठकर अपनी छाती पर हाथ रखकर धीरे-से अपने से पूछना कि क्या सचमुच मैं लोगों के प्रति क्षमाभाव धारण कर पाया हूँ ? कि सिर्फ लोगों से अपेक्षा रखता हूँ कि वे मुझे क्षमा करें ! हम कहाँ किसी को क्षमा कर पाते हैं ? यदि सच में हम क्षमा करें तो वह बात हमारे मन से हट जानी चाहिए जिस बात को लेकर हमारे मन में क्रोध रहा था। लेकिन नहीं हट पाती। वर्षों बाद भी जब याद आती है तो - 'वैसे तो हमने क्षमा कर दिया था लेकिन गलती तो की थी आपने!' वह गलती वर्षों तक हमारे मन में है जबकि हमने क्षमाभाव धारण कर लिया है !

एक बार एक व्यक्ति ने आधे घण्टे तक बुद्ध को गालियाँ दीं, वे कुछ नहीं बोले। कमठ ने पार्श्वनाथ पर कई-कई दिन तक उपसर्ग किये, उनको तक़लीफ पहुँचाई पर उन्होंने कुछ नहीं कहा। वे हमेशा अपने मन में क्षमाभाव ही धारण करते रहे और इतना ही नहीं जिस व्यक्ति ने उनके प्रति अपने मन को खट्टा किया वे उसके कल्याण की भावना भाते रहे। बहुत बड़ी चीज है ये। पार्श्वनाथ को केवलज्ञान होते ही कमठ को भी सम्यग्दर्शन हो गया। ये है महापुरुषों की क्षमा। **कोई हमारे प्रति कलुषता भी रखता हो तो हमारे आचरण से वह भी निष्कलुष हो जाये। हमारी निर्मलता उसकी**

कलुषता को हटाने में कारण बने। हमारा क्षमाभाव उसकी शत्रुता को नष्ट कर दे। हमें मालूम है हमने पहले ही अपने मन में उसके प्रति क्षमाभाव धारण कर लिया, उसे मज़बूर होना पड़ेगा मुझे क्षमा करने को। बुद्ध को जब आधा घण्टे तक गालियाँ देता रहा वह व्यक्ति, पर सामने से कोई रिप्लाई (जवाब, उत्तर) नहीं, तो उसके कुछ समझ नहीं आया, उसने बुद्ध पर थूक दिया। बुद्ध ने दुपट्टे से उसे पौंछ लिया, फिर इतना ही कहा- 'कुछ और तो नहीं कहना !' दंग रह गया वह कि अब क्या कहूँ ? इतना कुछ करने के बाद भी ये कह रहे हैं कि कुछ और तो नहीं कहना ? इतनी पेशॅन्स (सहनशक्ति) इतना धैर्य ? मन की इतनी निर्मलता ? ऐसा क्षमाभाव ! क्या इसका एक प्रतिशत भी हमारे भीतर आ सकता है ? जब वह वापिस घर लौटा तब उसके मन में विचार बदलने लगे- 'मैंने इस व्यक्ति को कितनी बातें कहीं उसने तो कुछ नहीं कहा !' थोड़ा और आगे बढ़ा विचार कि 'मुझे ऐसा नहीं करना चाहिये था ! मैंने ठीक नहीं किया !' घर पहुँचते-पहुँचते तो बेचैन हो गया वह। अभी तो गालियाँ दे रहा था अब बेचैन हो रहा है ! गाली क्यों दी ? अब इस बात की बेचैनी थी ! एक समय आता है जब दूसरे को गाली देने के लिए दूसरे को नीचा दिखाने के लिए बेचैन होते हैं और हमारे जीवन में एक समय वह भी आ सकता है जब हम यह सोचें कि दूसरे के प्रति हमने गाली क्यों दी? और इसके लिए बेचैन हो उठते हैं। और वह व्यक्ति रातभर सो नहीं पाया। सुबह चार बजे उठकर दौड़ पड़ा वह, अभी पहुँचना है उस बाबा के पास, वह इतना शान्त रहा, मैं क्षमा माँगूंगा उससे। वह बुद्ध से क्षमा माँगने लगा। बुद्ध ने उसे गले लगा लिया और कहा- 'क्षमा माँगने की आवश्यकता नहीं है, तुम वह नहीं हो जिसने गाली दी थी। वह गाली देनेवाला दूसरा था, तुम क्षमा माँगनेवाले दूसरे हो। गाली देनेवाला क्षमा कैसे माँग सकता है ?' जो क्षमा माँगनेवाला है वह कोई दूसरा है। क्या इस तरह का भाव, इतना प्रगाढ़ भाव हमारे भीतर आ सकता है ? आ सकता है यदि विचार करें तो, अपने जीवन के अनुभवों से शिक्षा लें तो हमारे जीवन में भी इस तरह की बात आ सकती है।

जैसे अपने अपराध के लिए दूसरों से क्षमा चाहते हैं क्या दूसरे से अपराध होने पर ऐसी ही क्षमा हम अपने भीतर भी धारण नहीं कर सकते? बस, इतनी सी बात पर विचार करना है, यदि ये विचार हमारे भीतर बहुत गहराई में आ गया तो फिर दूसरों के अपराध दिखेंगे ही नहीं, यदि कोई अपराध करेगा तो उसके प्रति हम हमारा मन गन्दा नहीं करेंगे। कोई हमें गाली दे तो उसने तो अपना मन पहले ही गंदा कर लिया, मेरा क्या बिगड़ा? पर अब बिगाड़ना चाहूँ तो बिगाड़ सकता हूँ मेरा मन। किसी ने हमें गाली दी तो उसने अपना मन खराब किया या हमारा मन खराब करने की कोशिश की? हम

नहीं करें अपना मन खराब और कह दें उसको कि 'आप गाली दे रहे हैं पर हम आपको रिप्लाई (उत्तर) नहीं दे पायेंगे, क्षमा करना आप। हाँ वन साइडेड (एकतरफा) चलेगा ये। हम तो कुछ बोल नहीं पायेंगे। आप अगर यह सोचकर आये हैं कि मैं भी आपको गाली दूँगा तो यह मेरे से नहीं हो सकेगा, आपको देनी है तो और दो-चार दे लो, मैं हाथ जोड़ लेता हूँ आपके।' बहुत मुश्किल पड़ेगी सामनेवाले को। क्योंकि यह बहुत कठिन है। आसान तो यह लगता है कि चाहे जितना कह लो फिर कह दो- 'आई एम सॉरी !' नहीं, चाहे जितनी सुन लो उसके बाद भी मन को कलुष नहीं होने दो। ये है हमारी अपनी सोच, अपनी क्षमा। दूसरे ने कितनी गाली दी ये ध्यान नहीं रखना, **दूसरे की सुन सकता हूँ मैं इसके बाद भी मेरा मन मलिन नहीं होयेगा आज उस निर्मलता का दिन है, क्या हम इस तरह मना पायेंगे क्षमावणी !** हमें इसी तरह मनानी चाहिये क्षमावणी। जिन-जिन के प्रति हमारे मन में इस तरह की कलुषता है उनके प्रति हम अपने मन की कलुषता को धो देंगे, सामनेवाले से कुछ नहीं कहेंगे क्योंकि कई बार ऐसा होता है कि सामनेवाला इस मानसिकता में नहीं होता और हम उससे जाकर क्षमा माँगते हैं तो उल्टा वह अपने मन को और अधिक कलुषित कर लेता है, इसका ध्यान रखना भी जरूरी है, हमने दूर से ही अपने मन में क्षमाभाव धारण कर लिया।

मुनिराजों को तो सुबह-दोपहर-शाम तीनों समय सब प्राणियों के प्रति क्षमाभाव धारण करने के लिए प्रतिक्रमण करना होता है। वे क्षमा माँगने के लिए सबके पास तो जायेंगे नहीं लेकिन अपने मन में सबके प्रति क्षमाभाव धारण करते हैं। ऐसी स्थिति हमारे सबके जीवन में बन सकती है। कभी अगर किसी व्यक्ति के प्रति अपने मन में कलुषता आ गई हो तो उसको अपने मन से तो निकाल देना, सामनेवाला जब निकाले तब निकाले।

जीवन भूल का इतिहास।
भूल तो अपनी कही थी,
भूल क्या ये भी नहीं थी,
कहो विश्वघाती विश्व का उपहास !
तू खोजता पथ
किन्तु डग-डग पर बिछा शूल
शीघ्रता में कर लिया क्यों शत्रु पर विश्वास !
जीवन भूल का इतिहास।

क्षमाभाव धारण करने के लिए इन सब बातों पर ध्यान रखकर ही फिर कोई स्टेप

(कदम) उठाना चाहिये क्योंकि सामनेवाले की मानसिकता हम नहीं जानते कि वह वैसा क्षमाभाव धारण करता है कि नहीं! **हम उससे क्षमाभाव की अपेक्षा न रखें, सबसे पहले अपने मन को निष्कलुष बनाएं।** सामनेवाले को अवसर दें कि वह हमारी निष्कलुषता और निर्मलता से प्रेरित होकर हमारे प्रति भी अपने मन को निष्कलुष बनाये। इतनी भर हम उसकी मदद करें। अगर सामनेवाले से अपने लिए क्षमा चाहिये तो उसकी तो मदद करनी पड़ेगी और वह मदद इतनी ही है कि मैं अपने मन को पहले ठीक कर लूँ। अपना मन ठीक करने में सामनेवाले को भी मदद मिलेगी, यही मुख्य चीज है।

एक छोटी-सी घटना याद आती है - दो दोस्त थे। दोनों के बीच बहुत प्रेम था। फिर ऐसा समय आया कि एक दोस्त अपना घर छोड़कर चला गया और दूसरा अपनी पढ़ाई के लिए दूसरे शहर चला गया। दोनों अपना-अपना घर छोड़कर चले गये थे। जो पढ़ने गया था उसने अपनी पढ़ाई पूरी कर ली, तब उसने सुना कि मेरा मित्र भी घर से चला गया है लेकिन वह जंगल में डाकुओं के साथ है। घबरा गया वह, बहुत दुःख हुआ उसे। किसी के लिए इस तरह दुःखी होना बहुत मुश्किल है, अन्यथा तो सोचते हैं कि ठीक हैं, बिगड़ गया तो बिगड़ गया, अपन को क्या पड़ी ? अगर वाकई में दूसरे के मन को निर्मल बनाना है तो अपने मन में भी उतनी ही निर्मलता होनी चाहिये। एक दिन वह भी उस जंगल में गया, वहाँ उसे एक घुड़सवार मिला। घुड़सवार ने अपने उस मित्र को पहचान लिया पर उसने सिर्फ इतना ही कहा कि 'एक तरफ हट जाओ।'

उसने भी घुड़सवार को पहचान लिया, वह बोला- 'भैया! मुझे तुमसे कुछ कहना है।'

'एक तरफ हट जाओ, कुछ नहीं बोल रहा वरना इतनी बात कहनेवाले की जुबान उसके मुँह में नहीं रह पाती', बस इतना ही कहा।

अगले क्षण जब वह घुड़सवार आगे निकल गया तब उसके बाद वह सोचने लगा कि वह मेरा मित्र था ! ठीक है, अगर वह मेरी जुबान भी खींच लेता, अगर वह मुझे प्राणों से भी मार देता तो भी मेरा क्या बिगड़ जाता ? वह तो सुधर जाता! मेरी गलती हो गई। अब मिलेगा तो मैं उससे कहूँगा कि- 'तू मुझे मार ले, पर तेरा इस तरह होना मुझे अच्छा नहीं लगता।' क्या दूसरे की कलुषता दूर करने के लिए इतनी तड़प अपने मन में होती है ? क्या इस तरह का हमारा मन बनता है ? हम दूसरे से तो अपेक्षा रखते हैं लेकिन क्या दूसरे को भी हमसे ऐसी अपेक्षा नहीं होती होगी ! किसी से कोई गलती होती है तो क्या आगे बढ़कर सहर्ष उसे स्वीकार कर लेते हैं ? कोई नहीं करना चाहता, सब दूसरे का इन्तजार करते हैं कि जब आप थोड़ा झुकेंगे तब मैं झुकूँगा। किसी न किसी

एक को तो शुरुआत करनी ही पड़ेगी।

दूसरी बार फिर से उससे उसी जंगल में मिलना हुआ। तो वह बोला- 'तू कह रहा था कि 'मैं जुबान खींच लूँगा अगर कुछ बोला तो' तो तू खींच ही ले लेकिन मुझे तुझसे कुछ कहना है। तेरा ऐसा (डाकू) होना मुझे अच्छा नहीं लगता, बड़ा दुःख होता है।'

अबकी बार घुड़सवार मित्र ने कुछ नहीं कहा। सिर्फ घोड़े से नीचे उतरकर घोड़े को लेकर सिर नीचा किये हुए निकल गया। थोड़ा-सा परिवर्तन तो दिखाई दिया- उस मित्र ने सोचा, 'शायद मुझमें ही कहीं कमी रह गई जिससे ये अभी भी मेरी बात पर गौर नहीं कर रहा। अपना जीवन बिगाड़ रहा है।' तीसरी बार मिलने पर उसने कुछ नहीं देखा और अपने मित्र से लिपटकर फूट-फूट कर रोने लगा कि 'मुझे बहुत दुःख होता है तुम्हारे इस तरह होने का।' जो बागी हो गया था उस मित्र ने अपने मित्र के पाँव छू लिये और कहा- 'बस, आज से ही ये सब छोड़ देता हूँ। मैंने पहली बार यह अनुभव किया कि मेरे अपराध से किसी को इतना दुःख पहुँच सकता है, कोई इतना दुःखी हो सकता है, तुम्हारे जैसा! अब मैं अपराध नहीं कर पाऊंगा।'

भैया! गलती करनेवाले के प्रति हमारे मन में ऐसा ही क्षमा का भाव है तो मानियेगा कि गलती करनेवाले को भी एक बार सोचना पड़ेगा। दूसरों को सुधारने की अपेक्षा पहले हम हमारा जीवन सुधारें। शायद क्षमावणी इसीलिए आती है कि हम अपने भीतर देखें कि हमारे अपने सम्बन्ध कितने घृणा के हैं, कितने द्वेष के हैं, कितने प्रेम के हैं, कितने मित्रता के हैं ? एक बार अपना विश्लेषण, अपना ऑब्जर्वेशन (अवलोकन) तो करें कि किस-किस के प्रति हमारे मन में कितनी कलुषता है ? हम तो ये ऑब्जर्वेशन (अवलोकन) करते हैं कि दूसरे के मन में किसके प्रति कितनी-कितनी कलुषता है?

कई लोग तो ये भी कहते हैं कि अपने शत्रु के घर जाकर उससे क्षमायाचना करनी चाहिये। पर मैं आपको यह सलाह देता हूँ कि इतनी उतावली मत करना। उतावली करके आप अपना नहीं उनका अहित कर रहे हैं। **आप जब तक अपने मन को निर्मल न बना लें तब तक किसी और के मन में अपने प्रति शत्रुता हटाने की प्रक्रिया शुरू न करें।** आप अपने जीवन को ऊँचा उठाते जायें। आप दूसरे को शत्रु नहीं मान रहे, वह आपको शत्रु माने तो उसकी पीड़ा वह भोगेगा। मैंने कल तक आपको अपना शत्रु माना था, आज नहीं मान रहा, मैंने अपने मन से शत्रुता का भाव निकाल दिया- यदि हमारी ये एप्रोच (अभिगम, पहुँच) है तो आज का हमारा ये क्षमावणी मनाना सार्थक होगा। मैं तो एक ही बात जानता हूँ, मैंने अभी तक जितनी भी बातों पर विचार किया है उन पर बार-बार सोचता हूँ तो अन्ततः एक ही बात आती है- मन की निर्मलता,

भावों की निर्मलता। यह सारे धर्मों को, सारी क्वालिटीज (गुणों) को हमारे भीतर ला देती है यदि हमारा मन इतना सहज और निर्मल हो जाये। हमारा सारा पुरुषार्थ इसी बात का होना चाहिए। हम जो भी क्रियाएं करें, जो भी धार्मिक क्रियाएं करें, जो भी अनुष्ठान करें, चाहे स्वाध्याय ही करें, हमारा उन सबका एक यह ही उद्देश्य होना चाहिये। शायद था- ये उद्देश्य भी, अलग-अलग तरह से ये अवसर देकर व्यक्ति को उसकी मलिनता से बचाने का प्रयास किया था। यदि वर्षभर में किसी के प्रति कोई कलुषता भीतर आ गई है तो आज जाकर क्षमा माँगें या जिनके प्रति कलुषता नहीं है जाकर उसके प्रति भी कहें कि 'कभी आपके प्रति कलुषता न आ जाये, आज के दिन मैं आपके पास न पहुँच सका और आपके मन में कलुषता आ जाये कि क्यों नहीं आये? इसलिए मैं आ गया।' आपका मन मेरे प्रति कलुषित न हो जाये- हमारे जीवन में कितनी कीमती प्रक्रियाएं रखी गईं ये दोनों! हमें इनका लाभ लेना चाहिए।

बहुत अध्ययन-चिन्तन करनेवाला, बहुत बौद्धिक व्यक्ति भी अपनी समस्याओं को सुलझा नहीं पाता है लेकिन जो व्यक्ति बहुत भावनात्मक होता है वह अपनी उलझनों को क्षणभर में सुलझा लेता है। आज अपनी उलझनों को सुलझाने का दिन है। आज परस्परता के बोध का दिन है। जैसा मेरा जीवन है ऐसा ही तो औरों का है, जैसी खामियाँ मेरे भीतर हैं वैसी ही तो औरों में है, जैसी कमियाँ मेरे भीतर हैं, जैसी गलतियों का पुतला मैं हूँ वैसे ही तो और हैं ! 'एरर इज ह्यूमन टू कन्फैस इज डिवाइन' गलती इन्सान से होती है पर उस गलती को स्वीकार कर लेना दिव्यता है। मैं मनुष्य हूँ, मेरे भीतर कमियाँ न हो ऐसा हो ही नहीं सकता। मैं कोई देवता तो हूँ नहीं। जब मेरे भीतर कमियाँ हैं तो दूसरे के भीतर भी कमियाँ हो सकती हैं। हमें दूसरे की कमियाँ नहीं देखनी हैं और उसकी कमियाँ देखकर अपने मन को मलिन नहीं करना है। मुझे उसकी अच्छाइयाँ देखनी हैं, अपने भीतर की कमियों को अलग करना है। यदि आज के दिन हमारे भीतर ये परस्परता का बोध जागृत हो जाये, अगर हम ऐसे भावनात्मक प्रयास करें जिससे दूसरे के प्रति हमारी कलुषता हट जाये तो हमारा सारा अध्ययन, हमारा सारा ज्ञान सार्थक हो जाये।

अपन को क्षमापर्व के अवसर पर कल फिर बैठना है। और जैसा मेरा मन था कल वैसा ही आयोजन किया है आप लोगों ने। सभी मुनि महाराज (जो जयपुर में विराजित हैं) कल आ रहे हैं। आपने यह प्रयास किया इसके लिए मेरे मन में बहुत प्रसन्नता है। **जब हम अपनों से ही दूरी रखेंगे तो हम कैसे कह पायेंगे कि हमारे मन में क्षमा है !** पराये से तो दूरी है क्योंकि वह पराया है लेकिन अपनों से दूरी क्यों रखें?

आज तो अपनों से दूरी नहीं रखनी, इसी का दिन तो है क्षमावणी। इसीलिए शायद लोग आज अपनों से मिलने जाते हैं। इस अपनेपन को अभिव्यक्त करने के लिए जाते हैं कि हमारा कितना अपनापन है, आज के दिन तो हम जरूर मिलेंगे और आज हम ये बता देंगे कि आपके प्रति हमारा मन कितना निर्मल है! कल अपन फिर बैठेंगे और फिर इसी बात को बढ़ायेंगे।

आजकल हम लोगों के भीतर बौद्धिकता जितनी बढ़ती जा रही है उतनी ही ये सारी चीजें घटती जा रही हैं। होना तो ये चाहिये था कि इस बौद्धिकता के साथ हमारी भावनात्मक निर्मलता भी बढ़नी चाहिये थी। आज कितने पढ़े लिखे हैं अपन ! पहले के लोग भोले होते थे, वे नहीं समझते थे कि क्या भला है ? क्या बुरा है ? लेकिन आज तो हम बहुत समझते हैं कि हमारा भला किसमें है ? बुरा किसमें है ? इतनी बुद्धि हमको मिली है, इतना ज्ञान है हमको लेकिन इसके बावजूद भी हम अपने हाथ से अपना बुरा करते रहते हैं। **दूसरे के बारे में बुरा सोचना अपना ही तो बुरा करना है।** ये समझ ज्ञान से नहीं आती, अध्ययन-मनन से नहीं आती, ये तो अपने जीवन के अनुभव से आती है।

एक विद्यार्थी बहुत अध्ययन करना चाहता था। उसने अपने गुरुजी से कहा- 'मैं अध्ययन करना चाहता हूँ।'

गुरुजी ने कहा- 'अध्ययन ऐसे नहीं होता। जाओ ये किताब ले जाओ, इसका अध्ययन करो लेकिन किसी निर्जन स्थान में जाना, किसी गुफा में रहकर के चिन्तन करना, तुम्हें ज्ञान प्राप्त होगा।'

अगर उसने गुरुजी से कहा होता कि मैं जीवन का सार, जीवन का अनुभव प्राप्त करना चाहता हूँ तो शायद वे ऐसी सलाह न देते। उसने कहा - 'ज्ञान हासिल करना है।' आज हम अपने बच्चों को किताबों का ज्ञान दिलाने ही तो भेजते हैं बाहर । उसे अपने जीवन के अनुभव नहीं सिखाते, उसे अपने से दूर रखते हैं, दूर भेजते हैं कि जाओ, तुमको ज्ञान दिलवा रहे हैं। पहले लोग अपने बच्चों को अपने निकट रखते थे, अपने जीवन के अनुभव देते थे, ज्ञान तो अपने आप आ जाता था। अब तो ज्ञान हासिल कर लो, अनुभव बाद में। तो आज देख लें कि नई पीढ़ी के पास कौनसे अनुभव हैं? क्योंकि वह आपके कॉन्टेक्ट (सम्पर्क) में ही नहीं है। आज दुबई भेजेंगे, फॉरेन कॅन्ट्री (विदेश) में भेजेंगे, दून (देहरादून) में पढ़ेगा मेरा बेटा जहाँ राजीव गाँधी पढ़ते थे! और बेटा भी सोचता है कि जितने बड़े स्कूल में पढ़ूँगा उतना बड़ा हो जाऊँगा। इससे बच्चे भावनात्मक रूप से शून्य हो जायेंगे इसकी चिन्ता नहीं है। बस बौद्धिक रूप से बड़ा हो जाऊँ- यह चिन्ता है। ये चीजें जो अपन दुनिया में देख रहे हैं वे बुद्धि से चलती होतीं तो अभी तक

सुलझा लेते अपन अपने जीवन की गुत्थी, लेकिन नहीं सुलझी। सुलझती तभी है जब हमारे भीतर भावनात्मक परिवर्तन आता है, जब हमारा मन निर्मल होता है। और उस शिष्य ने एक वर्ष तक अध्ययन किया, वापस लौटा, लेकिन मन को शान्ति नहीं। उसने गुरुजी से कहा- ' इतना अध्ययन करने के बाद भी, इतना चिन्तन करने के बाद भी, किसी के कॉन्टेक्ट (सम्पर्क, साहचर्य) में नहीं रहा मैं, हरदम गुफा के भीतर बैठा रहा फिर भी मेरे मन को शान्ति नहीं।'

गुरुजी ने कहा- 'वापस जाओ। फिर से ज्ञान हासिल करो।' और अब दूसरी किताब दे दी। क्योंकि तुम्हें ज्ञान हासिल करना है तो करो ज्ञान हासिल। और वह फिर वर्षभर पढ़ता रहा। लेकिन जब लौटने लगा तब भी उसका मन निर्मल नहीं था, लेकिन क्या करे? अब यदि फिर से गुरुजी के पास जायेंगे तो वे फिर कहेंगे कि पढ़ो। वह थक गया था पढ़ने से। अचानक उसने देखा कि एक चिड़िया अपना घोंसला बना रही है पर सारे तिनके नीचे गिर जाते हैं, वह फिर से बनाती है। एक मकड़ी अपने जाल से नीचे गिर जाती है वह फिर जाल बनाती है। 'ठीक है, जब ये छोटे जीव नहीं हारते तो मैं क्यों हारूँ?' उस शिष्य ने सोचा- 'अब तो मन की शान्ति प्राप्त करके रहूँगा।' 'ज्ञान प्राप्त करूँ - अबके ये भाव नहीं थे । और फिर एक वर्ष तक सबसे सम्पर्क छोड़कर शास्त्रों का अध्ययन-मनन किया। थोड़ी शान्ति तो मिली क्योंकि अबकी बार थोड़ा एटीट्यूड चेन्ज (मनोवृत्ति परिवर्तन) हो गया था। अब निर्मलता हासिल करने का एटीट्यूड (मनोवृत्ति, भाव) था, ज्ञान हासिल करने का नहीं था। काश, हम भी लोगों को ये मैसेज (संदेश) दें कि ज्ञान के साथ-साथ निर्मलता बढ़ती चली जानी चाहिये। आज अच्छे पढ़े-लिखे लोग अपने मन में दूसरों के प्रति जितनी कलुषता संजोकर रखते हैं और जितना अपने मन को गंदा बना लेते हैं- वह सब देखकर बहुत आश्चर्य होता है कि पढ़ाई ने हमें कलुषता दी या निर्मलता? हाई एजूकेटेड (उच्च शिक्षित), वैल मेन्टेन्ड (पर्याप्त संपोषित), बहुत रिच फैमिली (धनी परिवार) को बिलांग (सम्बन्धित होना) करनेवालों के मन में भी अगर कलुषताएँ हैं तो हमने कुछ भी हासिल नहीं किया। हो सकता है कि लोगों ने दस-दस दिनों के निर्जल उपवास भी किये हों लेकिन मुझे आज के दिन इतना ही कहना है कि कहीं कोने में बैठकर के यह भी देखना कि किस-किस के प्रति अपने मन को निर्मल बनाया ! जिन-जिन के प्रति हमारे मन में कलुषता थी उनको हटा पाये कि नहीं इन दस दिनों में ! उन लोगों का शायद कल होगा सम्मान। जो लोग सम्मान करें और जिन लोगों का सम्मान हो उन्हें मुझे आज ही कह देना है कि या तो वहाँ सम्मान ग्रहण नहीं करें, यदि ग्रहण करें तो उस सम्मान को बनाये रखें। कहीं ऐसा

नहीं कि दस दिन तक तो केवल पानी पिया, ग्यारहवें दिन होटल में बैठे दिखें, और ये सम्मान लूट लें ! यह सम्मान व्यर्थ है। इससे बेहतर है कि- 'हमने अपने परिणाम निर्मल करने के लिए किये थे उपवास, हमें सम्मान की अपेक्षा नहीं है।' **सम्मान की एक परम्परा बन गई है और इसके दुष्परिणाम भी हमारे सामने हैं।** दस दिन तक जितनी तपस्या करते हैं- ग्यारहवें-बारहवें दिन उतनी ही कलुषताओं से लिप्त हो जाते हैं। हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जिस चीज के लिए हमारा सम्मान किया जा रहा है वह चीज हमारे भीतर बरकरार रहे, पूरे जीवनभर बनी रहे, तब मैं इस सम्मान के लायक हूँ, वर्ना कोई आवश्यकता नहीं।

वह शिष्य तीन वर्ष के बाद बहुत ज्ञान हासिल करने के बाद भी अपने आपको शान्त महसूस नहीं कर रहा है। वह पहाड़ से नीचे आता है तो देखता है कि गाय का एक छोटा-सा बच्चा तड़प रहा है। हम और आप तो ज्ञान के धोखे में आगे बढ़ जायें कि- ऐसे तो बहुत से जीव हैं दुनिया में, ये तो जिन्दा होते रहते हैं, मरते रहते हैं, हम क्या करें? बल्कि अपना मन और कलुष कर लेंगे। लेकिन वह शिष्य निकट आकर देखता है कि उसके घाव में बहुत कीड़े हैं, बहुत दुःखी है वह। जब उसकी आँखों की तरफ देखा तो वहाँ बहुत दीनता और याचना दिखाई पड़ी। वह बहुत कष्ट में है, इस समय वह (शिष्य) क्या करे? उसके पास एक दुपट्टा था। वह पास से पानी लाकर उस पर छिड़कता है, घाव को साफ करता है और उस पर अपना दुपट्टा बाँध देता है। अब देखता है कि उन आँखों में बहुत कृतज्ञता है, बोल नहीं रहा वह लेकिन उन आँखों में जो कृतज्ञता है वह महसूस हो रही है, वे यह संदेश दे रही है कि मैं तुम्हारे प्रति बहुत कृतज्ञ हूँ। तुमने इतना उपकार किया। जब तक उस बछड़े का घाव नहीं भरता तब तक वह शिष्य वहाँ रुकता है। जिस दिन वह गाय का बछड़ा खड़ा हो जाता है, उसके साथ दौड़ने लगता है उस दिन वह शिष्य गुरु के चरणों में आकर कहने लगता है- 'मैंने किताबों से जो ज्ञान बरसों में हासिल नहीं किया, जो निर्मलता मुझे उन किताबों के पढ़ने से नहीं आई वह निर्मलता इस छोटे-से बछड़े की आँखों में झाँकने से आ गई।'

क्या हमारा जीवन भी ऐसा बन सकता है कि हमारी आँखों में दूसरा झाँके और वहाँ निर्मलता देखकर वह अपनी कलुषता भूल जाये ! हमारे कहने के बाद नहीं, हमारी आँखों में दूसरा झाँके कि इनमें सचमुच क्षमाभाव है या नहीं या सिर्फ हाथ जोड़कर वाणी से कह रहे हैं! आज इस प्रयोग को करके तो देखो, क्या आपकी आँखों को देखकर इस बात का भरोसा हो जाये कि मैं तुम्हारे प्रति बिल्कुल निष्कलुषित हूँ। मेरे मन में तुम्हारे प्रति सौहार्द है, मेरे मन में तुम्हारे प्रति कोई कलुषता नहीं है। क्या आज हम अपनी आँखों से लोगों को

ये दिलासा दे पायेंगे कि सचमुच हमने अपने जीवन में पिछले दस दिनों में बहुत कुछ हासिल कर लिया है ! हम सब महसूस करें- इसी भावना के साथ कि हमने इतनी मेहनत की, इतने दिनों हमने अपने जीवन को अच्छा बनाने का कितना पुरुषार्थ किया, कितना बना पाये ये आज हमारी परीक्षा का दिन है। कितना बना पाये? थोड़ा ही बना होगा लेकिन आज हम देखें कि क्या सचमुच हमारे हाथ सहज रूप से जुड़ पाते हैं ? क्या हमारी आँखों में इतनी ही निर्मलता आ पाती है ? अगर ऐसा हमने कर लिया तो हमारा पूरा जीवन सार्थक होगा। इसी भावना के साथ आज णमोकार करते हैं कि हमारे मन में निर्मलता आवे। दूसरों के अपराधों को नहीं देखते हुए, उसकी गलतियों को क्षमा कर सकें। स्वयं दूसरे से क्षमा माँगने से पहले हम दूसरे की गलतियों को क्षमा कर सकें ताकि हमारी अन्तरंग की धारणा बन जाये इसी के लिए आज हम णमोकार करते हैं।

❑❑❑

ज़िन्दगीभर

हम ज़िन्दगी-भर
जीते हैं
कुछ इस तरह
कि जैसे
जीना नहीं चाहते
जीना पड़ रहा है।
और मरते वक़्त
मरते हैं
कुछ इस तरह
कि जैसे
मरना नहीं चाहते
मरना पड़ रहा है।
शायद इसीलिए
हमें जीवन
दुहराना पड़ रहा है।

- मुनिश्री क्षमासागरजी

गुरुवाणी प्रकाशन के अन्य प्रकाशन

प्रवचन संकलन

1.	**गुरुवाणी** – प्रथम पुष्प (एलाचार्य श्री विद्यानन्द जी)	अप्राप्य
2.	**गुरुवाणी** – द्वितीय पुष्प (आचार्य श्री विद्यासागर जी)	25/-
3.	**गुरुवाणी** – तृतीय पुष्प (एलाचार्य श्री विद्यानन्द जी)	अप्राप्य
4.	**गुरुवाणी** – चतुर्थ पुष्प (आचार्य श्री विद्यानन्द जी)	अप्राप्य
5.	**गुरुवाणी** – पंचम पुष्प (आचार्य श्री विद्यानन्द जी)	10/-

जनोपयोगी साहित्य

1.	पंचपरमेष्ठी : स्वरूप दर्शन	अप्राप्य
2.	द्रव्य और श्रावक : विचार और आचार	4/-
3.	रत्नत्रय और कर्म प्रकृतियाँ	अप्राप्य
4.	भक्तामर भावाञ्जलि	35/-
5.	भक्तामर गीताञ्जलि	15/-
6.	धर्म : साधन और स्थिति (दशलक्षण धर्म पर विचार)	10/-

'णाणं पयासओ'

गुरुवाणी

मुनिश्री क्षमासागर जी